अभिनव भारती ग्रन्थमाला—२

मनके भेद

लेखक
प्रो० राजाराम शास्त्री
काशी विद्यापीठ

सम्पादक
हजारीप्रसाद द्विवेदी



प्रकाशक—
गिरिजाशङ्कर वर्मा
अभिनव भारती ग्रन्थमाला
१७१-ए, हरिसन रोड,
कलकत्ता

प्रथम बार
नवम्बर, १९४०
मूल्य १॥)

मुद्रक—
जेनरल प्रिण्टिङ्ग वर्क्स
८३, पुराना चीनाबाजार स्ट्रीट,
कलकत्ता।

सम्पादकीय वक्तव्य

इस युगकी विचारधारामें जिन आविष्कारोंने क्रान्ति ला दी है उनमें चित्त विश्लेषण शास्त्र प्रमुख है। यद्यपि यह विज्ञान अब भी नितान्त शैशवावस्थामें है तथापि इसका प्रभाव मनुष्य जातिके विचार क्षेत्रमें स्पष्ट ही लक्षित होने लगा है। अभिनव भारती ग्रन्थमालाके प्रकाशन की योजनाके समय ही हमने इस विषयपर तीन चार छोटी-छोटी पुस्तकें लिखानेका विचार किया था। श्रीराजाराम शास्त्रीजीकी यह पुस्तक उसी विचारका फल है। शास्त्रीजीने अत्यन्त सहज और सुबोध भाषामें इस शास्त्रके एक सम्प्रदायके विचारोंको उपस्थित किया है। यह उक्त शास्त्रका व्यावहारिक और उपयोगी रूप है। आशा है, इससे पाठकोंको आनन्द मिलेगा। जो पाठक अंग्रेजीमें लिखी गई इस विषयकी पुस्तकोंको पढ़नेका अवसर नहीं पा सके हैं उनके लिये तो निश्चित रूपसे यह पुस्तक ज्ञानवर्धक होगी, साथ ही इस विषयको और अधिक जाननेके लिये उनके चित्तमें कुतूहल भी उत्पन्न करेगी। हम प्रयत्न करेंगे कि पाठकोंका कुतूहल शान्त करने योग्य और कई पुस्तकें हमारी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हों। श्रीराजाराम शास्त्री अपनेको छिपा रखनेवाले विद्वानोंमें से हैं। परन्तु हमारा विश्वास है कि इस पुस्तकके प्रकाशनके बाद पाठकोंका कुतूहल उन्हें चुप नहीं बैठने देगा और इस तथा अन्य दार्शनिक विषयोंकी गहराई तक ले जानेके लिये और भी अधिककी मांग पेश करेगा।

हिन्दीभवन, शान्तिनिकेतन
नवम्बर, १९४० } हजारीप्रसाद द्विवेदी

भूमिका

वियेनाके डाक्टर सिगमुण्ड फ्रॉयड द्वारा प्रणीत 'साइको एनालिसिस' अर्थात् 'चित्त-विश्लेषण' की—जो मनोविज्ञानको एक नयी शाखा है—चर्चा तो इधर हिन्दीमें यदाकदा हुई है। किन्तु यह क्या है, इसके सम्बन्धमें अभी हिन्दीके पाठकोंकी बहुत कम जानकारी है। उधर पश्चिममें आजकल इसकी धूम मची हुई है। यह एक नया विज्ञान है। इस कारण अभी इसके सिद्धान्त पूर्णरूप से स्थिर और विवादरहित नहीं हो पाये हैं, किन्तु इसकी ओर लोगोंका ध्यान बड़े जोरोंसे खिंच रहा है। इधर कुछ वर्षों में इसका बड़ा विस्तार हुआ है। यहांतक कि लोगोंका कहना है कि इसके प्रणेता फ्रॉयड महोदय जितने छपे हुए पृष्ठोंके लिये निजी तौरपर जिम्मेदार हैं, उतना अन्य कोई भी लेखक नहीं है। इसका कारण यह है कि यह विज्ञान अत्यन्त उपयोगी और व्यावहारिक है। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग बहुत व्यापक है और इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत होता जा रहा है। जीवनके अनेक अंगोंकी पुष्टिके लिये इससे कुछ-न-कुछ मसाला मिलता है और व्यवहारके प्रत्येक क्षेत्रकी न्यूनताओंकी पूर्ति तथा दोषोंके परिमार्जनके लिये इससे कुछ-न-कुछ सहायता मिल सकती है। इसका प्रयोग जीवनके अनेक अंगोंमें क्रान्ति उपस्थित करनेका दावा कर रहा है। वर्तमान जीवनके आधारभूत सिद्धान्तों को ही इसने कँपा दिया है और नये सिरेसे उनका निर्माण करनेका सन्देश दे रहा है। इसने मानस व्यापारोंके सम्बन्धमें हमारे ज्ञानमें बहुत वृद्धि कर दी है। चित्तकी बहुतसी अन्धकारमय भूमियोंको प्रकाशित कर दिया है। जिन बातोंको अबतक बिलकुल ही निरर्थक समझा जाता था उनमें ही इस विज्ञान ने जीवनसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाला गूढ़ तात्पर्य खोज निकाला है। अव्यक्त चेतना की खोज ही इसका प्रधान विषय है। मनके इस छिपे

हुए क्षेत्रमें अपनी गवेषणा से इसने हमारे व्यापक समाजिक अज्ञानको बड़ा धक्का पहुंचाया है, क्योंकि इसके सिद्धान्तानुसार यह पूजन हमारी मानसिक उन्नतिको पूर्णताका परिणाम नहीं, बल्कि हमारी इच्छाका फल है अर्थात् हम इस अज्ञानमें ही रहना चाहते हैं। इस प्रकार अशक्तिका बहाना भी—जो हमारा एकमात्र आश्रय है—हमारे हाथसे निकल जाता है। हमारी योग्यतापर आक्षेप न करके सीधे हमारी नीयतपर ही वार किया जाता है। इस विज्ञानने सामाजिक नैतिकताका क्षेत्र बहुत विस्तृत और उसका आदर्श बहुत ऊंचा और विधात्मक बना दिया है।

इसी विज्ञानकी एक उपशाखा "वैयक्तिक मनोविज्ञान" है जिसके प्रणेता फ्रॉयडके शिष्य वियेना के डाक्टर ऐल्फ्रेड ऐडलर हैं, जिनके सिद्धान्तोंको सरल रूपमें हिन्दीके पाठकोंके सामने रखनेकी चेष्टा प्रस्तुत पुस्तकमें की गई है।

विचार तो मेरे हैं ही नहीं ; निरूपणके दृष्टिकोण में अगर कोई अच्छाई हो तो उसका श्रेय मेरे श्रद्धेय गुरुवर डा० भगवान्‌दासजीको है जिन्होंने मुझे दृष्टि दान दिया है। मेरे मित्र और पूर्व शिष्य श्री विद्याभास्करजीने इन अध्यायोंको लिखनेमें अपनी सहायता तथा उपयोगी सम्मतियां देकर मुझे अनुगृहीत किया है।

विद्वान् पाठक त्रुटियोंको क्षमाकर तथा सत्परामर्श देकर मुझे कृतार्थ करेंगे।

सौर ६ ज्येष्ठ सं० १९९७ } राजाराम

विषय सूची

मन के भेद

चित्त-विश्लेशग्ाका इतिहास

वैयक्तिक मनोविज्ञान चित्त-विश्लेषण-विज्ञानकी एक उपशाखा है। इसलिये इसका स्वरूप समझनेके लिये चित्त-विश्लेषणके इतिहासको जानना जरूरी है। चित्त-विश्लेषण मनोविज्ञानकी एक शाखा है, जिसका विशेष विषय 'अव्यक्त चित्त' है। किन्तु ऐतिहासिक रूपमें यह मनोविज्ञानके प्रवाहकी सीधी दिशामें एक मंजिल नहीं है बल्कि उसमें इसका योग दूसरी दिशासे आते हुए एक दूसरे प्रवाहके संगमके रूपमें हुआ है। वस्तुतः इसके आविष्कर्त्ता फ्रायड महोदय स्वयं ही इसके आविष्कारसे पूर्व मनोविज्ञानकी मुख्य धारासे अनभिज्ञ थे। मूलतः यह मानसिक विकारोंके निदान और शमनकी एक कला है, मानसिक

व्याधियोंकी एक नई चिकित्सा-प्रणाली है। इसलिये स्थान-संकोचके कारण यदि मनोविज्ञानमात्रके विस्तृत और जटिल इतिहासको छोड़ दिया जाय, तो भी इसे समझनेमें अपेक्षाकृत विशेष कठिनाई न होगी। स्थान-संकोचकी बात इसलिये कहनी पड़ती है कि स्वयं चित्त-विश्लेषणके उद्गमकी दिशामें भी हम आदि तक न जा सकेंगे; और इसके विशिष्ट रूपकी उत्पत्ति और विकासको ही संक्षेपमें देख सकेंगे।

फ्रायड महोदय वियेनामें चिकित्साशास्त्रके एक विद्यार्थी थे और अपनी अन्तिम परीक्षामें व्यस्त थे। इस समय वियेनाके एक दूसरे चिकित्सक डा० जोज़फ़ ब्रयुवरने अन्वेषण और चिकित्साकी इस नवीन पद्धतिका प्रयोग पहले पहल (सन् १८८०-८२ ई० में) एक लड़की पर किया, जो हिस्टीरिया रोगसे पीड़ित थी। इस रोगिणीके रोग और चिकित्साका संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है—

यह रोगिणी २१ वर्षकी परम बुद्धिमती लड़की थी। दो वर्षके अर्सेमें रोगने अनेक गम्भीर मानसिक और शारीरिक उपद्रव प्रकट किये थे। उसके दाहिने हाथ और पैर स्तब्ध हो गये थे। और बीच-बीचमें बायें अङ्गोंमें भी यही लक्षण प्रकट होते थे। आंखोंमें गत्युत्कम्प और दृष्टिहीनता आ गई थी। सिरको यथास्थान रखनेमें कठिनाई होती थी। खाने पीनेके समय मतली आती थी। और एक बार कई सप्ताह तक अति तीव्र तृषा होते हुए भी उसमें कुछ पीनेकी शक्ति नहीं थी। उसकी वाक्शक्ति भी कम हो गई थी और होते-होते यह बात इस दर्जेतक बढ़ी कि वह अपनी मातृभाषाको न बोल सकती थी और न समझ सकती थी। और अन्तमें उसे शून्य-मनस्कता, विक्षेप, चित्तभ्रम और सारे व्यक्तित्वके परिवर्तनके दौरे आने लगे।

इस प्रकारके लक्षणोंसे पहले तो यह खयाल होता है कि रोगका कारण कोई गहरी, सम्भवतः मस्तिष्ककी क्षति है, जिसके अच्छे होनेकी आशा नहीं

की जा सकती और जिससे सम्भवतः रोगीकी शीघ्र मृत्यु हो जायगी। किन्तु चिकित्सक लोग बताते हैं कि इतने ही प्रतिकूल लक्षणोंके सम्बन्धमें दूसरी धारणा भी सम्भव है। जब हम इस प्रकारके लक्षण एक २१ वर्षकी लड़की में देखते हैं, जिसके मुख्य आन्तरिक अंग-हृदय, गुर्दे वगैरह वैज्ञानिक जांचसे स्वस्थ पाये जाते हैं, किन्तु जो तीव्र मानसिक उद्वेगोंके संघर्षसे गुजरी है, और जबकि इन लक्षणोंमें कुछ सूक्ष्म विशेषताएँ होती हैं—ऐसी हालतोंमें चिकित्सक लोग समझ लेते हैं कि यह मस्तिष्ककी क्षति नहीं, बल्कि वह अवस्था है जिसे प्राचीन कालसे ही चिकित्सक लोग हिस्टीरियाके नामसे जानते आ रहे हैं, और जिसमें अनेक रोगोंके लक्षणोंका आभास हो सकता है। उक्त रोगिणीके मानसिक उद्वेगोंके सम्बन्धमें यह कह देना आवश्यक है कि उसकी बीमारी पहले पहल उस समय प्रकट हुई, जबकि वह मृत्यु-शय्यापर पड़े हुए अपने परम प्रिय पिताकी परिचर्य्या कर रही थी, और स्वयं बीमार हो जानेके कारण वह इस सेवा कार्यसे वंचित हो गई थी।

चित्त-विश्लेषणके आविष्कारसे पहले चिकित्सक लोग हिस्टीरियाके संबन्ध में यह समझकर सन्तुष्ट हो जाते थे कि इसमें रोगीकी जानका खतरा नहीं है, यह उतनी गम्भीर बीमारी नहीं है, जितनी यह अपनेको 'प्रकट करती है'। रोगीको वे अतिरञ्जन और इच्छा पूर्वक कपटाचरण आदिके अनेक दोष लगाते थे, और उसकी उपेक्षा करते थे। इसमें वे कुछ कर न सकते थे। यह कैसे और कब अच्छा होगा, यह वे प्रकृतिकी दया पर ही छोड़ देते थे; यद्यपि इससे बीमारीकी गम्भीरतामें कोई फर्क नहीं पड़ता।

किन्तु डा० ब्रयुवरने इस रोगिणीकी उपेक्षा नहीं की, उन्होंने उसके साथ सहानुभूति दिखलाई। कदाचित् रोगिणीके उन्नत मानसिक और चारित्रिक गुणों के कारण यह बात अधिक सम्भव हुई।

डा० ब्रयुवरकी सहानुभूतिने शीघ्र ही प्रथमोपचारका रास्ता निकाल दिया। उन्होंने देखा कि रोगिणी, अपनी शून्य-मनस्कताकी, अपने मानसिक परिवर्तनकी दशामें प्रायः कुछ शब्द गुनगुनाती थी। ये शब्द उन विचारोंसे प्रसूत जान पड़े, जिनमें उसका मन व्यस्त था। डाक्टर उसे मोहकीसी दशामें लाकर उसके सम्मुख इन्हीं शब्दोंको बार बार दुहराने लगे, ताकि उनसे सम्बद्ध विचार सामने आ जायँ। रोगिणीने उनके आदेशका पालन किया और उन मानसिक रचनाओंको उनके सम्मुख प्रकट किया, जिनसे शून्य-मनस्कताकी दशाओंमें उसका मन अभिभूत होता था और जो इन भिन्न-भिन्न शब्दोंमें प्रकट हो जाती थी। ये मानस-कल्पनायें अत्यन्त करुण और कभी-कभी काव्य-सौन्दर्य-युक्त होती थीं; इन्हें हम दिवा-स्वप्न कह सकते हैं। प्रायः इनका आरम्भ उस लड़कीकी स्थितिसे होता था, जो अपने पिताकी रोगशय्याके समीप स्थित है। जब वह ऐसी कुछ कल्पनाओंको व्यक्त कर चुकती थी, तब मुक्त सी हो जाती थी और अपनी स्वाभाविक मनःस्थितिमें लौट आती थी। यह स्वस्थ दशा कई घण्टों तक रहती थी और तब दूसरे दिन फिर एक 'शून्य-मनस्कता' उत्पन्न होती थी, जो फिर उसी तरीकेसे नवनिर्मित कल्पनाओंको व्यक्त करनेसे दूर होती थी। ऐसी स्थितिमें अनिवार्य रूपसे ऐसा प्रतीत हुआ कि उसकी 'शून्य-मनस्कता'में प्रकट होनेवाला मानसिक परिवर्तन इन्हीं अत्यन्त आवेगपूर्ण कल्पना चित्रोंकी उत्तेजनाओंका परिणाम है। स्वयं रोगिणीने ही इस नई चिकित्सा प्रणालीको 'वार्तालाप चिकित्सा'का नाम दिया था अथवा विनोदमें इसे 'चिमनी झाड़ना' कहती थी।

डाक्टरके मनमें शीघ्र ही यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस प्रकारकी हृदय की सफाईसे कुछ अधिक काम लिया जा सकता है। मनको बार-बार आच्छन्न करनेवाले 'बादलों'के अस्थायी रूपसे तिरोहित हो जाने भरसे काम न चलेगा।

उन्होंने सोचा कि रोगके लक्षण शान्त हो सकते हैं, यदि 'मोहावस्था' में रोगी को उस स्थितिका स्मरण हो सके, जब कि ये लक्षण पहले पहल प्रकट हुए थे, बशर्ते कि उस स्थितिने जिन आवेगोंको उत्पन्न किया था, उन्हें खुलकर निकाल डाला जाय। उन्होंने उक्त रोगिणीपर यही प्रयोग किया। "एक दिन जब कि कड़ाकेकी गर्मी थी, रोगिणी बड़ी तृषार्त थी, क्योंकि बिना किसी प्रत्यक्ष कारणके एकाएक उसकी पीनेकी शक्ति जाती रही थी। वह गिलासमें पानी लेती थी, पर होठोंसे लगातेही उसे अलग कर देती थी, जैसे उसे जलसे डर लगता हो। इन चन्द क्षणोंमें वह प्रत्यक्ष रूपसे 'अन्यमनस्कता'की दशामें थी इस कठिन तृषाको शान्त करनेके लिये वह केवल फल–तरबूज़ आदि–खाती थी। ६ सप्ताह तक इसी दशामें रहनेके बाद एक दिन 'मोहावस्थामें' उसने अपनी अंग्रेज़ निरीक्षिकाके सम्बन्धमें, जिससे वह घृणा करती थी, बात करते हुए घृणाके कुल लक्षणोंके साथ यह बताया कि किस प्रकार उस निरीक्षिकाके घृणित कुत्तेने एक गिलाससे पानी पी लिया था। शिष्टाचारके लिहाजसे वह चुप रह गई थी। अब अपने निरुद्ध क्रोधको तीव्र रूपमें व्यक्त कर चुकनेपर उसने पानी मांगा, बिना किसी कठिनाईके खूब पानी पिया और गिलासको होंठों से लगाये हुए ही 'मोहावस्था' से जागी। इसके उपरान्त वह रोग-लक्षण स्थायी रूपसे शान्त हो गया।"

ब्रयुवरने देखा कि प्रायः सभी लक्षण इसी प्रकार आवेगयुक्त अनुभवोंके अवशेषके रूपमें उत्पन्न हुए थे, जिन अनुभवोंको इसी कारण बादको 'मानसिक क्षत' का नाम दिया गया। लक्षणोंका स्वरूप उस स्थिति या दृश्यके संबंधसे स्पष्ट होता था, जिसने उन्हें जन्म दिया था। पारिभाषिक भाषामें वे उस दृश्यसे 'निर्दिष्ट' होते थे, जिसके वे स्मृति-चिह्न होते थे, और इसलिये उन्हें उन्माद का 'आकस्मिक' या निरर्थक परिणाम नहीं कहा जा सकता था।

ब्रयुवरको अपनी उक्त रोगिणीकी दृष्टि संबंधी खराबियोंके बाहरी कारण इस प्रकारके उपलब्ध हुएः—"रोगिणी रोगशय्याके पास आँखोंमें आँसू भरे बैठी थी। उसके पिताने एकाएक समय पूछा। वह स्पष्ट देख नहीं सकती थी, उसने आंखोंपर जोर डालकर देखनेकी चेष्टा की, जेब घड़ीको आंखोंके पास लाई, जिससे डायल बहुत बड़ा दिखने लगा, अथवा उसने आंसुओंके दबानेका तीव्र प्रयत्न किया ताकि रोगी पिता उन्हें देख न पायें।"

सभी रोगोत्पादक संस्कार उसी समयसे उत्पन्न हुए थे जब कि वह अपने रुग्ण पिताकी शुश्रूषा कर रही थी। "एक बार वह रातको अत्यन्त चिन्ता और आशंकाके साथ रोगीकी निगरानी कर रही थी, क्योंकि उन्हें तीव्र ज्वर था और वियेनासे एक सर्जन उनका ओपरेशन करनेके लिये आनेवाले थे। उसकी माता थोड़ी देरके लिये बाहर गई हुई थीं, और 'अन्ना' रोगशय्याके पास अपने दाहिने हाथको कुर्सीकी पीठ पर लटकाये हुए बैठी हुई थी। वह चिन्तामग्न हो गई और उसने देखा कि एक काला सांप दीवारसे निकल कर रोगीको काटनेके लिये बढ़ रहा है। (बहुत संभव है कि घरके पीछे चरागाहमें अनेक सांप सचमुच दिखाई पड़े रहे हों, और उनसे वह डर गई रही हो, तथा इन्हीं पिछले अनुभवोंने इस विभ्रमको सामग्री प्रदानकी हो।) उसने इस जन्तुको भगानेकी कोशिश की पर उसे जैसे लकवा हो गया। उसका दाहिना हाथ जो कुर्सीकी पीठ पर लटक रहा था "सुप्त" हो गया था, और उसके देखते देखते उसकी नखयुक्त अंगुलियोंने कपालयुक्त छोटे-छोटे साँपोंका रूप धारण कर लिया। स्यात् उसने सांपको अपने जड़ता-ग्रस्त दाहिने हाथसे भगानेकी चेष्टा की थी और इसी कारण हाथकी संवेदनशून्यता और जड़ता साँपके विभ्रमके साथ एक सूत्रमें सम्बद्ध हो गई। जब यह भ्रम समाप्त हुआ उसने अपने कष्टमें बोलनेकी चेष्टा की पर बोल न सकी। वह किसी भाषामें

अपने भावोंको व्यक्त न कर पा रही थी। अन्तमें उसे अंग्रेजी भाषाका एक शिशुगीत याद आया, और इसके बाद वह इसी भाषामें सोच और बोल सकती थी।" जब मोहावस्थामें इस दृश्यकी स्मृति जगी, दाहिने हाथकी जड़ता, जो रोगके आरम्भसे थी जाती रही और चिकित्सा समाप्त हो गई।

इससे यह परिणाम निकलता है कि हिस्टीरियाके रोगी स्मृतियोंसे आर्त होते हैं। उनके रोगके लक्षण क्षतात्मक अनुभवोंके स्मृत्यात्मक प्रतीक होते हैं। वे बहुत पुराने दुखद अनुभवोंको याद ही नहीं रखते बल्कि अबतक उनसे अभिभूत रहते हैं। वे भूतसे निकल नहीं सकते और वर्तमान स्थितिकी उपेक्षा करते हैं। मानसिक क्षतों पर मनकी यह 'स्थिरता', उनके प्रति यह आसक्ति मानसिक रोगका एक विशेषगुण है। किन्तु ब्रयुवरकी रोगिणीके कुल क्षत उसी समय उत्पन्न हुए थे, जब वह अपने रुग्ण पिताकी परिचर्या कर रही थी, अतएव उसके रोग-लक्षण उक्त सिद्धान्तानुसार पिताकी बीमारी और मृत्युके ही स्मृत्यात्मक प्रतीक समझे जा सकते हैं। जब कि उसके पिताकी मृत्यु हुए अभी इतने थोड़े ही दिन हुए थे, तो उसके विचारोंका पितापर 'स्थिर' होना कोई अस्वाभाविक बात न थी, बल्कि स्वाभाविक पितृशोक था। किन्तु यदि क्षतात्मक अनुभव और रोगोत्पत्तिके थोड़े ही समय बाद, उसकी 'रेचक चिकित्सा' न होती तो शायद भूतके प्रति उसकी यही आसक्ति अस्वाभाविक रूप धारण कर लेती।

हिस्टीरियाके लक्षणोंका रोगीके जीवनसे संबंध जान लेनेके बाद हमें दो और बातों पर विचार करना चाहिये, जिन्हें ब्रयुवरने देखा। इनसे रोगकी उत्पत्ति और चिकित्साकी क्रियाओं पर प्रकाश पड़ता है। पहली बात यह ध्यान देनेकी है कि ब्रयुवरकी रोगिणीको प्रायः हर रोगोत्पादक स्थितिमें किसी न किसी तीव्र आवेगको उपयुक्त शब्दों और कार्योंके द्वारा व्यक्त करनेके बजाय

उसका दमन करना पड़ा था। अपनी निरीक्षिकाके कुत्तेके मामलेमें उसने शिष्टाचारके लिहाजसे अपनी तीव्र घृणाके कुल लक्षणोंको दबा दिया था। अपने पिताकी रोगशय्याके पास वह सावधानीके साथ अपनी चिन्ता और दुखद उदासीको रोगीके प्रति जरा भी प्रकट नहीं होने देती थी, बादको जब उसने चिकित्सकके सम्मुख इसी दृश्यकी आवृत्ति की उस समय उसका वह दबा हुआ आवेग विशेष वेगके साथ फूट पड़ा, मानो वह बराबर रुद्ध रहा हो। रोगका लक्षण, जो उस दृश्यसे उत्पन्न हुआ था, उस समय अत्यन्त तीव्र हो उठा जिस समय डाक्टर उस दृश्यकी स्मृतिका उद्बोधन कर रहे थे, और उसका पूर्ण रूपसे उद्घाटन हो जाने पर गायब हो गया। दूसरी ओर यह भी देखा गया है कि जब रोगी चिकित्सकके सम्मुख क्षतात्मक दृश्यकी आवृत्ति करता है, उस समय यदि किसी विशेष कारणसे आवेगका आविर्भाव न हो, तो यह क्रिया रोगके शमनमें ज़रा भी कारगर नहीं होती। प्रकट है कि इन्हीं आवेगोंकी गतिमें ही रोगीकी रुग्णता और स्वास्थ्यलाभका मूल है। इस प्रकार हमें 'आवेग' की कल्पना एक ऐसी शक्ति या मात्राके रूपमें करना पड़ता है, जो बढ़ सकती है, व्युत्पन्न हो सकती है और स्थानान्तरित की जा सकती है। तदनुसार हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि रोगीके रुग्ण होनेका कारण यह हुआ कि रोगोत्पादक स्थितिमें जो आवेग उद्बुद्ध हुआ, वह अपने प्राकृतिक मार्गसे निकल नहीं सका, चरितार्थ होनेसे रोक दिया गया और रोगका तत्त्व इसी बातमें है कि ये अवरुद्ध आवेग अनेक असाधारण विकारोंको प्राप्त होते हैं। इन आवेगोंकी शक्तिका कुछ भाग तो स्थिर आवेशके रूपमें सुरक्षित रहता है और मानस-जीवनमें निरन्तर उपद्रवका कारण बना रहता है। और एक भाग असाधारण शारीरिक वातग्रस्तता और स्तंभोंमें रूपान्तरित हो जाता है, जो कि रोगके शारीरिक लक्षणोंके रूपमें दिखाई देते हैं। इस पिछली क्रियाको 'हिस्टी-

रिकल कनवर्शन' (वातोन्माद विक्रिया) का नाम दिया गया है। हमारी मानसिक शक्तिका कुछ भाग साधारण अवस्थामें शारीरिक क्रियाओंके रूपमें निकल जाता है जिन्हें हम 'अनुभाव' कहते हैं। वातोन्माद विक्रिया आवेग-युक्त मानसिक क्रियाके इस भागमें अतिरेक उत्पन्न कर देती है। ऐसा ज्ञात होता है कि साधारणसे बहुत अधिक आवेग की अभिव्यक्ति हो रही है जो अपने निकासके लिये नये-नये रास्ते निकाल लेता है। जैसे यदि किसी प्रवाह-की दो धारायें हों, तो एकको बाधा मिलनेसे दूसरीमें बाढ़ आ जाती है, उसी प्रकार मानो मानसिक मार्गमें आवेगकी गति अवरुद्ध हो जानेके कारण शारी-रिक मार्गसे वह अतिरिक्त तीव्रताके साथ प्रवाहित होने लगता है और साधारण मार्गोंके अतिरिक्त अनेक नये-नये मार्गोंसे फूट पड़ता है। और यही हिस्टीरियाके उन अनेक विचित्र शारीरिक लक्षणोंका कारण है, जिनकी शिका-यत हम हिस्टीरियाके रोगियोंसे सुनते हैं। तथा आवेगोंके इन्हीं अनेक मार्गोंमें बहने या शारीरिक लाक्षणिक अनुभावोंके रूपमें परिवर्तित होकर व्यक्त होनेकी क्रियाका नाम वातोन्माद विक्रिया है।

इस प्रकार हम धीरे-धीरे हिस्टीरियाकी शुद्ध मानसिक व्याख्या पर पहुंच रहे हैं, जिसमें पहला स्थान आवेगोंकी गतिको दिया जाता है।

दूसरी बात जो ब्रयुवरने देखी वह यह है। उनकी रोगिणी अपनी सहजा-वस्थाके अतिरिक्त अनेक प्रकारकी मानसिक स्थितियां, शून्यमनस्कता, विक्षेप और व्यक्तित्व परिवर्तनकी दशायें प्रकट करती थी सहजावस्थामें वह रोगोत्पादक दृश्योंसे और उनका उसके रोग-लक्षणोंसे क्या सम्बन्ध है, इस बातसे बिलकुल ही अन-भिज्ञ रहती थी। वह उन दृश्योंको भूल गयी थी अथवा कम से कम उसने उनका रोगोत्पादक सम्बन्ध विच्छिन्न कर दिया था। रोगिणीको मोहावस्थामें लाकर, बड़ी दिक्कतसे इन दृश्योंकी स्मृति उद्बुद्ध की जा सकी थी। और इस

स्मृत्युद्बोधनसे रोगके लक्षण निवृत्त हो गये थे। इन बातोंकी व्याख्या करना बड़ा कठिन होता यदि सम्मोहनके अनुभव और प्रयोगोंने पहलेसे रास्ता न बता दिया होता। सन् १८८५-८६ ई० में फ्रायड पेरिसमें जाकर 'शार्को' के विद्यार्थी रहे, जिन्होंने करीब-करीब उसी समय, जबकि इधर वियेनामें ब्रयुवर अपनी रोगिणी पर 'वार्तालाप चिकित्सा' का प्रयोग कर रहे थे, उधर पेरिसमें हिस्टीरियाके रोगियोंपर सम्मोहनके प्रयोगों द्वारा वे अन्वेषण आरम्भ किये थे, जिनसे हिस्टीरियाको समझनेका नया मार्ग खुलने वाला था। किन्तु उस समय वियेनामें इनके निर्णयोंका पता नहीं था। शार्कोके पाससे लौटकर फ्रायड ने हिस्टीरियाके मानसिक कारणोंका अध्ययन करनेमें ब्रयुवरके साथ सहयोग किया। सम्मोहनमें देखी जानेवाली बातोंके आधार पर शार्कोंके शिष्य 'ज़ाने' के अध्ययनसे इस बातका परिचय प्राप्त हो चुका था कि एक ही व्यक्तिमें कई मानसिक संघात हो सकते हैं, जो कि एक दूसरेसे अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रूपसे रहें, एक दूसरेके विषयमें कुछ भी न जानें, और चेतनाको अपने स्वरूपके अनुसार अनेक भागोंमें विभाजित करदें। इस प्रकारका 'नानाव्यक्तित्व' कभी-कभी तो स्वयं उद्भूत हो जाता है। यदि व्यक्तित्वके इस प्रकारके विभाजनमें चेतना स्थायी रूपसे किसी एक विभागसे बद्ध रहती है तो उसे चेतनावस्था कहते हैं, और दूसरेको अचेतनावस्था। नैन्सी (फ्रांस) में सम्मोहिनी विद्याके आचार्य 'बर्नहाइम' के सम्मोहन सम्बन्धी प्रयोगोंमें फ्रायडने (जबकि वह एक रोगिणी-को—जिसे वह और ब्रयुवर सम्मोहित नहीं कर सके थे—लेकर उनके पास गये थे) यह भी देखा था कि यदि मोहावस्थामें किसी व्यक्तिको कोई आज्ञा इस प्रकारकी दी जाय कि मोह दूर होनेके बाद किसी विशेष समयपर वह अमुक कार्य करे, तो ठीक उसी वक्तपर वह उस कार्यको करनेके लिये आन्तरिक विवशताकी भावनाका अनुभव करेगा और यदि कोई भौतिक या शारीरिक

बाधा न हुई तो वह उस आदेशको कार्यान्वित करेगा। इस प्रकारके आदेशको मोहोत्तर आदेश कहते हैं। किन्तु मूर्छाके बाद वह उस आदेशसे जो उसे मोहावस्थामें दिया गया था नितान्त अचेत रहता है। वह उस समयके सारे अनुभवको बिलकुल ही भूल जाता है। इसे मोहोत्तर विस्मृति कहते हैं। इस मोहोत्तर आदेशकी क्रियासे यह भलीभांति समझा जा सकता है कि अचेतन मन किस प्रकार चेतन मनपर प्रभाव डाल सकता है, यद्यपि चेतन मनको अचेतन मनके अस्तित्वका ज्ञान नहीं रहता।

इसके बाद फ्रायडने ब्रयुवरके आरम्भ किये हुए अन्वेषण कार्यको स्वतन्त्र रूपसे आगे बढ़ाया। फ्रायड चिकित्सक थे। उन्हें अपने कार्यमें एक व्यावहारिक कठिनाई उपस्थित हुई। उन्होंने देखा कि कितना भी प्रयत्न करनेपर वह अपने कुल रोगियोंको किसी प्रकार सम्मोहित नहीं कर सकते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने देखा कि सम्मोहनसे उस वक्त तो रोगके लक्षण गायब हो जाते थे, किन्तु कुछ समय बाद दूसरे लक्षण प्रकट होते थे। यदि जड़ता दूर हो जाती थी, तो ६ महीने बाद संवेदन-शून्यता या विस्मृति प्रकट हो जाती थी। सम्मोहनके तरीकोंसे हिस्टीरियाको स्थायीरूपसे दूर नहीं किया जा सकता था। ये साधन रोगके मूलमें न जाकर केवल उसकी ऊपरी अभिव्यक्तियोंको हटाते थे। अतएव उन्होंने सम्मोहनके उपायका त्यागकरके ब्रयुवरकी रेचक-चिकित्सा-प्रणालीको उससे स्वतन्त्र कर देनेका इरादा किया। इस कार्यमें उन्हें नैन्सीमें बर्नहाइमके चिकित्सालयमें देखी हुई एक कार्रवाईकी स्मृतिसे बहुत सहायता मिली। बर्नहाइमने यह दिखलाया था कि सम्मोहित व्यक्तियोंको मोहावस्थाके अनुभवोंकी जो विस्मृति मोह दूर होनेके बाद होती है, वह केवल ऊपरी होती है, और सहजावस्थामें भी उन व्यक्तियोंमें उन अनुभवोंकी स्मृति जगाई जा सकती है, जो उन्हें मोहके समय कराये गये थे। जब बर्नहाइम उनसे मोहा-

वस्थाके अनुभवोंके बारेमें पूछते थे, तो पहले तो वे कहते थे कि उन्हें याद नहीं है, किन्तु जब वह बतलानेपर जोर देते थे, प्रोत्साहित करते थे और विश्वास दिलाते थे कि उन्हें याद है, तो भूली हुई स्मृति सदैव वापस आ जाती थी।

इसी उपायका प्रयोग फ्रायडने अपने मरीजों पर किया और इस प्रकार वह बिना सम्मोहनके मरीजोंसे उन तमाम बातोंको जाननेमें कामयाब हुए जो भूले हुए रोगोत्पादक प्रसङ्गोंसे रोग-लक्षणोंका सम्बन्ध स्थिर करनेके लिये आवश्यक होती थीं। इस प्रक्रिया द्वारा— जिसे अभी एक परिष्कृत कलाका रूप नहीं प्राप्त था— प्राप्त अनुभवोंसे यह सिद्ध होता था कि भूली हुई स्मृतियां नष्ट नहीं हुई थीं। वे मरीजके अधिकारमें ही तथा बराबर प्रकट होने और मरीजके मनकी अन्य सामग्रीसे सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये तैयार थीं, किन्तु कोई शक्ति (संकोच) उन्हें सचेत होनेसे रोक रही थी और उन्हें अचेतनावस्थामें पड़े रहनेके लिये विवश कर रही थी। इस बाधक शक्तिका होना निश्चित था क्योंकि अचेतन स्मृतियोंको रोगीकी चेतनामें लानेके लिये अपने निजी प्रयत्नकी शक्ति उसके मुकाबिलेमें लगाना पड़ता था। रुग्णावस्थाको कायम रखनेवाली बाधक शक्तिको हम रोगीके संकोचसे समझ सकते हैं।

इसी संकोचको फ्रायडने हिस्टीरियाके रोगियोंकी मानसिक क्रियाओंके सम्बन्धमें अपने सिद्धान्तका आधार बनाया उन्होंने देखा था कि रोगीको अच्छा करनेके लिये इस बाधक शक्तिको जीतना आवश्यक होता था। इस चिकित्सा-प्रणालीके आधारपर उन्होंने एक सुनिश्चित सिद्धान्त स्थिर किया। जो शक्ति रोगकी स्थितिमें भूली हुई स्मृतियोंके चेतनाके सम्मुख प्रकट होनेमें बाधक होती है, यही शक्ति स्वयं ही भूलका कारण भी हुई होगी, और इसी शक्तिने रोगोत्पादक अनुभवोंको चेतनासे बहिष्कृत किया होगा। फ्रायडने इस अज्ञात

शक्तिको 'दमन' का नाम दिया, जिसके अस्तित्वका प्रमाण उन्हें 'संकोच' के निश्चित अस्तित्वमें मिलता था।

अब यह प्रश्न उठा कि इस अज्ञात शक्तिका स्वरूप क्या है, और यह दमन जिसे हम हिस्टीरिया रोगका उत्पादक कारण देखते हैं, किन अवस्थाओंमें होता है। रेचक-प्रणाली द्वारा प्राप्त रोगोत्पादक स्थितियोंके तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रश्न भी हल हो जाता है। इन सभी अनुभवोंमें ऐसा दिखाई देता था कि व्यक्तिमें एक ऐसी इच्छा उद्बुद्ध हुई थी, जो कि उसकी अन्य इच्छाओंसे अत्यन्त विरुद्ध थी और उसकी नैतिकता, सुरुचि तथा व्यक्तिगत आदर्शोंके साथ मेल नहीं खाती थी। थोड़ेसे अन्तर्द्वन्द्वके बाद उस विचारका दमन हो गया था, जो इस प्रतिकूल इच्छाका वाहक बनकर चेतनामें आया था। तब यह विचार चेतनासे बहिष्कृत हो गया था और विस्मृत हो गया था। इस प्रकारके समान भावों और आवेगोंसे चारों ओर गुंथे हुये समान विचारों या अनुभवोंके इस महत्त्वपूर्ण समूहको फ्रायडके शिष्य 'जुंग' ने Complex (वासनाग्रन्थि; हृदयग्रन्थि) का नाम दिया था। परिणाम यह निकला कि उस विचारके रोगीके 'स्व' ('अहं') से प्रतिकूलता ही दमनका प्रेरक हेतु थी और व्यक्तिकी नैतिक तथा अन्य उच्च भावनाएँ ही दमनकारी शक्ति थीं। अनमेल इच्छाकी विद्यमानतामें अथवा अन्तर्द्वन्द्वके समयमें अत्यन्त तीव्र मानसिक पीड़ा हुई थी। उक्त दमनके द्वारा इस पीड़ासे बचाव हुआ। अतएव स्पष्ट है कि दमन ऐसी स्थितिमें व्यक्तित्वकी रक्षाका उपाय हुआ।

दमन किन अवस्थाओंमें होता है और उसकी उपयोगिता क्या है, यह स्पष्ट करनेके लिये फ्रायडने अपने एक मरीजका संक्षिप्त इतिहास दिया है। यह भी ब्रयुवरकी रोगिणीके समान ही एक लड़की थी, जिसके पिताकी थोड़े दिन पहले मृत्यु हो गई थी। वह अपने पितासे बहुत प्रेम रखती थी, और

रोग शय्यापर उसने उनकी सेवा की थी। जब उसकी बड़ी बहनने शादी की, वह अपने नये बहनोईके प्रति एक विचित्र सी सहानुभूतिका अनुभव करने लगी जिसे स्वभावतः वह कौटुम्बिक स्नेह समझती थी। उसकी बहन थोड़े ही दिन बाद बीमार हो गई और उसकी मृत्यु हो गई। उस समय वह अपनी मांके साथ बाहर गयी हुई थी। इन लोगोंको इस दुखद घटनाकी पूरी सूचना दिये बिना ही फौरन वापस बुला लिया गया। जब यह लड़की अपनी मृत बहनकी शय्याके पास खड़ी थी, एक क्षणके लिये उसके चित्तमें यह विचार उभर आया कि "अब वह स्वतन्त्र है, और मुझसे विवाह कर सकता है।" इस विचारने उसकी चेतनामें बहनोईके प्रति उसके गहरे प्रेमको उद्घाटित कर दिया जो अबतक उसकी चेतनामें व्यक्त नहीं था। निश्चय ही उसकी आहत भावनाओंने इस विचारको दूसरे ही क्षण दमनके सिपुर्द कर दिया। लड़की बीमार पड़ गई। उसमें हिस्टीरियाके गम्भीर लक्षण प्रकट हुए, और जब फ्रायडने उसकी चिकित्सा आरम्भकी तो मालूम हुआ कि वह अपनी बहिनकी मृत्युशय्याके उस दृश्यको और अपनी अस्वाभाविक स्वार्थपूर्ण इच्छाको, जो उसके मनमें उदित हुई थी, बिल्कुलही भूल गई थी। चिकित्साके दौरानमें उसे इन भूली बातोंकी याद आई, उस रोगोत्पादक दृश्यकी उसने तीव्र आवेगके सब लक्षणोंके साथ आवृत्ति की, और इस चिकित्सासे अच्छी हो गई।

अब हम देख सकते हैं कि मानसिक विच्छेदका क्या कारण होता है। फ्रायड गत्यात्मक रूपसे इसका कारण विरोधी मानसिक शक्तियोंका सङ्घर्ष बताते हैं। यह दो मानसिक व्यूहोंके या चित्तके दो भागोंके परस्पर सक्रिय विरोधका परिणाम है।

ब्रयुवरकी रोगिणीपर हम इस 'दमन सिद्धान्त'को नहीं लगा सकते क्योंकि उसका इतिहास सम्मोहनके द्वारा प्राप्त हुआ था। और सम्मोहनमें संकोच और दमनकी बातोंको नहीं देखा जा सकता और न रोगके उत्पन्न होनेकी क्रियाका

ठीक-ठीक ज्ञान हो सकता है। वस्तुतः इन प्रतिरोधोंको छिपाकर ही सम्मोहन-की क्रिया चित्तके एक भागके द्वार खोल देती है। इसी क्रियासे ये बाधायें इस खुले हुए क्षेत्रके किनारोंपर एकत्र होकर एक ऐसी दीवार बना लेती हैं, जिसके पार नहीं जाया जा सकता। इन बाधाओंको जीतनेके लिये रोगीका सक्रिय सहयोग चाहिए जो सम्मोहनमें नहीं मिलता। यही कारण है कि सम्मोहनके द्वारा मानसिक रोग जड़से अच्छे नहीं किये जा सकते।

किन्तु दमनसे रोगके लक्षण किस प्रकार उत्पन्न्न हुए ? हिस्टीरियाके तथा अन्य मानस रोगियोंकी चिकित्साके अनुभवसे फ्रायड आदि चित्तविश्लेषक इस नतीजेपर पहुंचे कि रोगियोंको विषम इच्छासे संश्लिष्ट विचारका दमन करनेमें पूरी सफलता नहीं मिली है। उन्होंने उसे चेतना और स्मृतिसे बाहर अवश्य निकाल दिया है और इस प्रकार अपनेको बहुत बड़ी मानसिक पीड़ासे बचाया है। 'किन्तु अव्यक्त चित्तमें दमित इच्छा अब भी बनी हुई है', केवल सक्रिय हो जानेका अवसर देख रही है, और अन्तमें वह चेतनामें दमित विचारके बजाय उसका एक रूपान्तरित और पहचानमें न आने योग्य प्रतिनिधि भेजनेमें सफल होती है, जिसके साथ वही पीड़ायुक्त अनुभूतियां सम्बद्ध हो जाती हैं, जिनसे रोगी अपनेको दमनके द्वारा मुक्त समझता था। दमित विचारका यह प्रतिनिधि—जो ही रोगका लक्षण होता है—आत्मा ('स्व') के मुकाबिलेसे सुरक्षित रहता है, और इस प्रकार क्षणिक अन्तर्द्वन्द्वके स्थानमें स्थायी कष्टका प्रादुर्भाव होता है। इन लक्षणोंमें उसके रूपान्तरके चिह्नोंके अतिरिक्त दमित विचारकी थोड़ी सी अवशिष्ट समता भी मिलती है; जिस प्रकार प्रतिनिधिका निर्माण हुआ है, वह रोगीकी चित्तविश्लेषण चिकित्साके दौरानमें प्रकट होता है और उसको रोगमुक्त करनेके लिये रोग-लक्षणका उसके मूल दमित विचार तक उसी रास्तेसे प्रत्यनुसरण करना पड़ता है जिससे वह आया था। अर्थात्

लक्षणसे चलकर दमित विचारका उसी विस्मृत मार्गसे स्मृतिद्वारा अनुसरण करना पड़ता है जिस मार्गसे लक्षण चेतनामें आया था, या यों कहिये कि जिस मार्गसे दमित विचार चेतनासे दूर भागा था। यदि यह दमित सामग्री, यह तिरोहित स्मृतियां पुनः व्यक्त चेतनामें सम्मिलित कर दी जायं—जिस क्रियामें बहुत संकोच-बाधाको परास्त करनेकी अपेक्षा होती है-तो उस अन्तर्द्वन्द्वका–जो फिरसे उठ खड़ा होता है और जिससे रोगी बचना चाहता था—चिकित्सक के पथ प्रदर्शनमें दमनकी अपेक्षा अधिक सुखकर अन्त हो सकता है। कई तरीकोंसे आन्तरिक संघर्ष और मानसिक रोगकी शान्ति हो सकती है। विशेष स्थितियोंमें इनमेंसे कई उपायोंके सम्मिश्रण और सहयोगसे सफलता प्राप्त की जा सकती है। या तो रोगीकी आत्मामें यह विश्वास दृढ़ कर दिया जाय कि रोगोत्पादक इच्छाका निराकरण करके उसने गलतीकी और वह उस इच्छाको पूर्णतः या अंशतः स्वीकार कर ले; या यह इच्छा किसी ऐसे उच्च उद्देश्यकी ओर प्रवृत्त कर दी जाय जो दोष रहित हो—इस क्रियाको उन्नयन अथवा ऊर्ध्व गमन कहते हैं—अथवा यदि उस इच्छाके तिरस्कारको ठीक समझा जाय तो दमनके यन्त्रवत्, अतः अपर्याप्त, उपायको उच्च मानवीय मनोवृत्तियोंके द्वारा अधिक सशक्त बनाया जाय। हर हालतमें जाग्रत् विचार द्वारा इच्छाओंके नियन्त्रणमें सफलता मिलती है।

यही उस चिकित्सा पद्धतिकी मुख्य प्रारम्भिक रेखायें हैं, जिसे आजकल 'चित्त-विश्लेषण' कहते हैं। आगे चलकर इसका बहुत विकास हुआ और इसने एक सुव्यवस्थित पद्धतिका रूप धारण किया। संक्षेपमें इसका स्वरूप यह है कि चिकित्सक अपने रोगीसे बातें करता है। उससे कहता है कि वह अपने चित्तको प्रयत्नहीन, सर्व निरोध रहित और सभी विषयोंसे रिक्त कर दे। उसे बेलगाम छोड़ दे और जो कुछ उसके मनमें स्वच्छन्द रूपसे आवे

और जिस क्रमसे आवे, निस्संकोच भावसे कहता जाय। इस प्रकार एक स्मृति-परम्परा उद्बुद्ध हो जाती है, जिससे अन्तमें रोगीके पूर्व जीवनके उस विशेष अनुभवकी स्मृतिका उद्घाटन हो जाता है, जो उसकी व्याधि या चित्त-विकारका मूल कारण हुआ था। इस प्रणालीको फ्रायडने Free and continuous association method (अबाध स्मृत्यनुक्रमण पद्धति) का नाम दिया है। इस तरह उसकी वह अव्यक्त और तिरोहित वासनाएं चेतनाके सामने आ जाती हैं, जो स्वयं उससे छिपी हुई थीं। बस, इसी प्रक्रियाका नाम चित्त-विश्लेषण है। इस क्रियाका आधार और इसके आविष्कारमें मूल सिद्धान्त यह है कि मानसिक विकार किसी तीव्र वासना-युक्त अनुभूतिकी अपेक्षा (दमन) और विस्मृतिसे उस वासनाके प्रतिशोधके रूपमें उत्पन्न होते हैं, जो कि इन अनुभवोंके साथ चित्तमें एक ग्रन्थि बना लेती है। उक्त अनुभवोंके पुनः स्मरणसे उनकी सहवर्ती वासनाएं बन्धनमुक्त हो जाती हैं, उनका भोग (Abreacion) हो जाता है, जिससे विकारकी शान्ति हो जाती है। इसलिये यदि विकारके मूल कारण अर्थात उसकी उत्पत्तिके निमित्तका पता चल जाय, तो केवल उसके चेतनाके सम्मुख आ जाने मात्रसे रोगका अन्त हो जायगा। अपने नित्यके जीवनमें हम तबियतका गुबार, चित्तका मैल निकाल डालनेके स्वास्थ्य-प्रद प्रभावसे खूब परिचित हैं। जब कोई व्यक्ति अपने दुःखोंको आपसे कह लेता है, तो उसका चित्त स्वस्थ हो जाता है। हम कहते हैं कि अपने मनसे बोझ उतर गया। यह चिकित्सा-प्रणाली चित्तका बोझ हलका करके एक स्वास्थ्य-प्रद प्रभाव उत्पन्न करती है। इसी लिये इसको अंग्रेजीमें Cathartic mathod कहते हैं, जिसका तात्पर्य्य (रेचक रीति) चित्त शुद्धि है।

किन्तु इस संक्षिप्त विवरणका तात्पर्य यह नहीं है कि चित्त-विश्लेषणकी सारी कला इतने ही में समाप्त हो जाती है। या इतना ही जान लेनेसे जो

चाहे इसका प्रयोग करने लगे। कार्य रूपमें यह कला इतनी आसान नहीं है, इसके सीखनेके लिये अभ्यास और शिक्षणकी आवश्यकता होती है। क्योंकि क्रमशः विकसित होकर यह काफी जटिल हो गई है और इसके कई अंग हो गये हैं। इसी क्रियाका आवश्यकतानुसार किंचित् हेर-फेरके साथ अनेक प्रकारसे प्रयोग किया जाता है जैसे—व्यक्तिके स्वप्नोंकी मीमांसा करना इसका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और मुख्य अङ्ग है ; और उसके ऐसे मानसिक और शारीरिक व्यापारों और गलतियोंका अध्ययन किया जाता है, जो उसे निरर्थक, महत्त्वहीन और अनजानमें अनिच्छापूर्वक होनेवाली प्रतीत होती हैं, जैसे किसी कामको करनेकी विस्मृति अथवा उसके स्थानमें दूसरा काम कर बैठना और अनेक अनुपयोगी शारीरिक चेष्टायें इत्यादि। इस प्रकार इस कलाका क्षेत्र अस्वस्थ अवस्थाका प्रतिक्रमण करके प्रकृत स्वस्थ मनुष्योंतक विस्तृत हो जाता है और यह सम्पूर्ण क्रिया-कलाप चित्त-विश्लेषणके अन्तर्गत है। इसके प्रयोगमें समय-समयपर चित्तकी रचना और उसकी कार्य-प्रणालीके सम्बन्धमें जिन-जिन बातोंका पता चला है, उन्हींका संग्रह या समष्टि इसका सैद्धान्तिक अंश है; जिसे चित्त-विश्लेषण शास्त्र कहते हैं; जो मनोविज्ञानकी एक शाखा है और जिसका विषय 'अव्यक्त चित्त' है।

पाठकोंके मनमें उपर्युक्त विवरणसे अवश्य ही यह बात आई होगी कि यह विज्ञान बिल्कुल ही नया नहीं है। इससे हम सर्वथा अपरिचित नहीं हैं। आखिर यह थोड़ेसे प्रकार भेदके साथ चित्त-शुद्धिके उद्देश्यसे किये हुए अन्तः निरीक्षणका ही तो एक तरीका है। 'हूप' साहबके शब्दोंमें "अव्यक्त चित्तकी गहराइयोंमें (गुहाहित रहस्यों) की खोज करनेका चित्त-विश्लेषण ही एक साधन नहीं है। महान् पुरुष सर्व कालमें इस अध्यात्मज्ञान (आत्मानुभव) की प्राप्ति तथा आत्मोन्नतिमें ऐसे उपायोंसे समर्थ हुए हैं,जिनका प्रयोग करनेके

लिये प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है;और चित्त-विश्लेषण इन्हीं साधनोंका कुछ अधिक वैज्ञानिक, नियमित और शृङ्खलाबद्ध विस्तार मात्र है।" इसके साथ भारतीय योग शास्त्रकी समताका ध्यान अनायास ही हो आता है। जिस प्रकार आयुर्वेद शरीरके दोषोंको दूर करनेका उपाय बतलाता है, उसी प्रकार चित्तके दोषोंके शमनका उपाय बतलाना ही इसका भी विषय है। योग-दर्शन-सूत्रोंके रचयिता ऋषि पतञ्जलिके चरणोंमें अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए हम साधारण भारतीय जन भी यही कहते हैं :—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

अर्थात् हम उन मुनिश्रेष्ठ पतञ्जलिको नमस्कार करते हैं, जिन्होंने योग शास्त्र द्वारा चित्तके विकारोंको उसी प्रकार दूर किया जिस प्रकार वैद्यकके द्वारा शरीरकी व्याधियोंको, और पद शास्त्र (व्याकरण) के द्वारा वाणी अर्थात् भाषाके दोषों को। इस निषेधात्मक उद्देश्य अर्थात् अस्वस्थ्य चित्तकी चिकित्सा-से आरम्भ करके योग सहज ही विधानात्मक अर्थात् स्वस्थ चित्तके विकासका एक साधन हो गया है, यह भारतीयोंसे छिपा नहीं है।

न केवल ध्येयमें बल्कि साधनमें भी चित्त-विश्लेषण और योगमें हम समानता देखते हैं। योगमें भी स्वप्नोंका ज्ञान एक साधन बतलाया गया है।"स्वप्न निद्रा ज्ञानालम्बनं वा"योगके भी दो पक्ष हो गये हैं। योगदर्शन प्रधानतः क्रियात्मक है। इसका सैद्धान्तिक अंश सांख्य-दर्शन है, जिसमें भी'अव्यक्त'ही प्रधान कहा गया है। इसीलिये दर्शनोंमें सांख्य और योग दोनों मिलाकर एक ही सम्प्रदाय और पद्धति समझी जाती है। प्रधानतः क्रियात्मक होनेके कारण योगमें स्वभावतः विशिष्ट साधन सम्बन्धी सिद्धान्तोंका उल्लेख है। चित्त शुद्धिके साधनके सम्बन्धमें सामान्य सिद्धान्त सांख्यमें इस प्रकार स्पष्ट किया गया है:—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य यथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥
(ईश्वर कृष्णकी सांख्यकारिका ५९)

अर्थात् जिस प्रकार नर्तकी रङ्गमचपर अपना भाव-विलास दिखाकर नृत्यसे निवृत्त हो जाती है, इसी प्रकार प्रकृति अपने स्वरूपको दिखाकर (जब पुरुष उसे देख लेता है) निवृत्त हो जाती है। किन्तु इस दृष्टान्तसे कोई यह शंका न करे कि जैसे नर्तकी द्रष्टाको पुनः कौतूहल होनेपर फिर नृत्यमें प्रवृत्त हो सकती है,उसी प्रकार प्रकृति भी एक बार देख ली जानेपर भी फिर अपना कार्य करने लग सकती है। क्योंकि—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीतिमे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥
(सांख्यकारिका ६१)

प्रकृतिके समान कोमल स्वभाव और लज्जाशील कोई वस्तु नहीं, यह मेरा मत है, क्योंकि वह 'पुरुषसे देखी गई', इतनी ही बातसे फिर पुरुषके सामने नहीं आती। कैसी निकटतम अनुभव गम्य, सुबोध और अन्तरङ्ग उपमा द्वारा विषयको हृदयङ्गम कराया गया है! सीधे-सादे शब्दोंमें इसी बातको यों कह सकते हैं कि जब हमने समझ लिया कि यह हमारा दोष है, तो फिर वह दोष रह कैसे सकता है। हमें (हमारी प्रकृति या स्वभावको) स्वयं अपनेसे ही लज्जा होने लगती है। हम अपनी ही आत्माके सामने लज्जित हो जाते हैं। अपनेसे ही शर्मा जाते हैं।

उपर्युक्त कारिकाओंमें हम देख सकते हैं कि सांख्य-योग और चित्त-विश्लेषणके साधन सम्बन्धी सिद्धान्तोंमें भी कितनी समानता है। दोनोंमें ज्ञान ही साधन है, जिसमें साधन ज्ञान जैसे स्वप्न इत्यादिका ज्ञान और साध्य ज्ञान अर्थात् अपनी प्रकृतिका ज्ञान दोनों समाविष्ट हैं।

चित्त-विश्लेषणकी शिक्षा मानव-चित्तसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी क्षेत्रोंमें काम करनेवालोंके लिये परमावश्यक और उपयोगी है। मानव संस्कृति और उसकी महान् कृतियां जैसे कला, धर्म, सभ्यसमाज इत्यादि विषयक सभी विज्ञानोंके लिये यह बहुत जरूरी है। इन सभी विज्ञानोंके लिये यह काफी उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसके अलावा इतिहास,धार्मिक मनोविज्ञान और भाषा विज्ञानके अध्येताओंके लिये भी इसमें उपकारिताका बीज विद्यमान है। शुद्ध विज्ञानके अतिरिक्त व्यावहारिक पक्षमें चित्त-विश्लेषणका प्रयोग शिक्षा-शास्त्रमें भी सफलता पूर्वक हो रहा है। काव्य और कलाकी सृष्टिका विश्लेषण सामान्य रूपसे और गल्प-साहित्य, हास्य-विनोद तथा नाटकका विशेष रूपसे इसके द्वारा सम्पन्न हुआ है। साहित्यिक समालोचनाके क्षेत्रमें भी इसने अपने लिये स्थान बना लिया है और वहां उसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है। सौन्दर्यशास्त्र, पुराण के रूपक, धर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र (कानून), जनश्रुति इत्यादिके क्षेत्रोंमें भी इसके विविध प्रयोग हुए हैं। मानव-विज्ञान, समाजशास्त्र और कलाका मनोविज्ञानमें अब चित्त-विश्लेषणके विना काम नहीं चला सकते। अपराधियोंकी चिकित्सासे इसका साक्षात् सम्बन्ध है, और अन्तमें हजारों व्यक्ति अपने कौटुम्बिक, सामाजिक और व्यापारिक जीवनके साथ मानसिक सामञ्जस्यकी अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार इस शास्त्रका क्षेत्र बहुत वृहत है :—

"अध्यात्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठा"

फ्रायडके थोड़ेसे प्रारम्भिक शिष्योंमेंसे, जिन्होंने चित्त-विश्लेषण-विज्ञानके विशेष-विशेष क्षेत्रोंमें महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और जिनके कामको फ्रायडने बहुत कुछ स्वीकार किया है तथा अपनी पद्धतिमें समाविष्ट किया है, दो के नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। ज्यूरिकके 'डा० कार्ल युंग' के नामका उल्लेख ऊपर वासना-ग्रन्थिके सम्बन्धमें हो चुका है, जिन्होंने 'रिक्तिन'

साथ सन् १९०४ ई० में ज्यूरिकमें 'शब्दानुबन्ध' पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रायोगिक और सैद्धान्तिक अध्ययनका प्रारम्भ किया था, जो कि चित्त-विश्लेषण-के 'ज्यूरिक सम्प्रदाय' का पहला ठोस काम था, और जिससे चित्त-विश्लेषणके क्षेत्रमें एक नयी क्रियात्मक प्रणाली और एक नयी विचारपद्धतिका प्रवेश हुआ। किन्तु इसके बादके ही वर्षोंमें युंगकी पद्धति फ्रायडसे अधिकाधिक पृथक् होने लगी और कुछ विशेष विषयोंमें फ्रायडसे उनका मतभेद हो गया। इसके साथ-साथ व्यक्तिगत मतभेदोंके भी प्रकट हो जानेके कारण युंगके नेतृत्वमें 'ज्यूरिक सम्प्रदाय' फ्रायडसे सर्वथा पृथक् हो गया, यद्यपि फ्रायडने जिन घटनाओंका निरीक्षण किया था, उन्हें तथा चित्त-विश्लेषणकी क्रियात्मक प्रणालीको ही जुंगने अपने कार्यका आधार बनाया और इस उपकरण-सामग्री-के मूल्यको वह मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। उनका मतभेद निरीक्षण द्वारा प्राप्त विषयोंकी व्याख्यामें था।

युंगका मनोविज्ञान, जिसे 'विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान' (analytic psychology) कहते हैं, मानस रोगोंका उल्लेख करते हुए भी, विशेषतः प्रकृता-वस्थामें ही केन्द्रित है। फ्रायडके सिद्धान्त अधिकतर रुग्ण व्यक्तियोंके अध्ययन-से उत्पन्न हुए हैं चाहे उनका प्रकृत जीवनके लिये जो भी महत्व हों; किन्तु युंगके सिद्धान्त इसके विपरीत, विशेष रूपसे ऐतिहासिक और साहित्यिक सामग्रीपर आश्रित हैं।

फ्रायडके सिद्धान्तोंके दूसरे महत्त्वपूर्ण रूप परिवर्तनके परिणाम स्वरूप उनके दूसरे पूर्व शिष्य डा० ऐलफ्रेड ऐडलरने भी उनसे अलग होकर वियेनामें अपना अलग सम्प्रदाय स्थापित किया। हम देख चुके हैं कि हिस्टीरिया आदि रोगोंके सम्बन्धमें फ्रायडका दृष्टिकोण मानसिक था। इसके विरुद्ध ऐडलरके कार्यका प्रस्थान बिन्दु शारीरिक था। उन्होंने पहले पहल (अपने पहले महत्व

पूर्ण ग्रन्थमें—जिसका नाम है 'Study of organ inferiority and its psychological Compansations' अर्थात्—'शारीरिक हीनता और उसके मानसिक परिमार्जन' सन १९०७ ई०) बच्चोंकी साधारण शारीरिक त्रुटियोंका अध्ययन किया और शारीरिक आधारपर ही उनकी उत्पत्तिकी व्याख्या की। इसी अध्ययनने उनका आगेका मार्ग निर्धारित कर दिया। बादका उनका सारा काम इस प्रस्थान बिन्दुके विकास स्वरूप ही था। यहींसे चलकर वह मानसिक रोगोंके अध्ययनकी ओर बढ़े। उन्होंने देखा कि शारीरिक त्रुटियोंसे उत्पन्न होनेवाली हीनताकी भावनाके "परिमार्जन"के लिये प्रबोधपूर्वक जो प्रयत्न होता है, यही प्रकृत और विकृत दोनों प्रकारके व्यक्तित्वको समझनेका आधार है ("The Neurotic Constitution" अर्थात् "वातग्रस्त प्रकृति,"सन् १९१२ ई०)। ऐडलरके 'स्व' सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तोंको फ्रायडके सम्प्रदायने प्रधानता न देते हुए भी उपयोगी स्वीकार किया है, यद्यपि ऐडलर चित्त-विश्लेषणकी क्रियात्मक प्रणालीका बहुत कम प्रयोग करते हैं। ऐडलरने उक्त 'हीनता ग्रन्थि' या 'आत्मग्लानि' के सिद्धान्तको विकसित किया, शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकारकी न्यूनताओंको उसका आधार स्वीकार किया तथा सामाजिक जीवनके अनेक क्षेत्रोंके विस्तृत अध्ययनसे उसके "परिमार्जन" तथा "अतिमार्जन" की प्रवृत्तिके उदाहरण प्रस्तुत किये।

जहां फ्रॉयड मानसिक जीवनकी व्याख्या उसके अव्यक्त कारणोंके आधार पर करनेका प्रयत्न करते हैं, मानसिक जीवनमें उन भौतिक शक्तियोंका अन्वेषण करते हैं, जो सारे जीव-जगत् पर शासन करती हैं, और इस प्रकार मनोविज्ञानके सिद्धान्तों और कार्यप्रणालीका सारे प्राकृतिक विज्ञानकी कार्यप्रणाली और क्षेत्रसे सामञ्जस्य स्थापित कर देते हैं; वहां ऐडलर विशिष्ट मानव शक्तियों को प्रधानता देते हैं; कारणात्मक दृष्टिकोणके विरुद्ध प्रयोजनात्मक दृष्टिकोणका

महत्त्व स्थापित करते हैं। उनका कथन है कि हम अपने आन्तरिक जीवनको बिलकुल नहीं समझ सकते जब तक हम प्रयोजनकी उस निरन्तर खोज पर ध्यान न दें, जो हमारे हर कार्य पर शासन करती है। जहां मानसिक जीवनमें सृजन तथा प्रेरणाकी शक्ति फ्रॉयडके लिये उसके कारणोंमें सन्निहित है, वहां ऐडलरके लिये यह शक्ति जीवनके प्रयोजनमें है।

ऐडलरकी प्रयोजनान्वेषिणी दृष्टिने उनके मनोविज्ञानको—जिसे "वैयक्तिक मनोविज्ञान" (individual psychology) कहते हैं—अधिक व्यावहारिक आदर्शात्मक और सामाजिक बना दिया है। इस मनोविज्ञानका उद्देश्य एक आदर्श समाजकी स्थापना हो जाता है। हिन्दू शास्त्रोंकी तरह युंगने मनुष्यमें अन्तर्मुखता और वहिर्मूखताकी दो मौलिक प्रवृत्तियां मानी हैं, जिन्होंने स्वभावभेदका आधार बनाकर विभिन्न व्यक्तियोंको दो व्यापक प्रकारोंमें विभक्त करते हैं। इस सिद्धान्तसे फ्रॉयड और ऐडलरके विरोधी सिद्धान्तोंका समन्वय हो सकते है। फ्रॉयड कामवासना पर और ऐडलर महत्वाकांक्षा या शक्तिकी वासना पर अधिक जोर देते हैं। फ्रॉयडका सिद्धान्त वहिर्मुख व्यक्तियों पर विशेष रूपसे लागू होता है; और ऐडलरका सिद्धान्त जिसमें व्यक्तिकी अहं-भावकी प्रधानता है, अन्तर्मुख व्यक्तियों पर अधिक लागू होता है। अन्तर्मुख व्यक्ति वर्हिमुख व्यक्तिके मुकाविलेमें कामवासना पर अधिक कामयावीके साथ नियंत्रण प्राप्त कर लेता है, और काम-समस्याको मुख्य मानकर उससे संघर्ष करनेके बजाय वह अपनी 'हीनभावना' और अतिवेदनशीलतासे संघर्ष करनेमें ही परेशान रहता है, जो कि तीव्र अहंभावनाकी सहचरी है।

२

मनोविज्ञानका जीवनमें प्रयोग

वैयक्तिक मनोविज्ञान व्यक्तिके समूचे जीवनका निरीक्षण करता है और उसके प्रत्येक कामको अपने दृष्टिकोणका आंशिक व्यञ्जन समझता है।। इस विज्ञानका सिद्धान्त है कि व्यक्ति समस्त जीवनको जिस निगाहसे देखता है और उसका जो प्रयोजन समझता है, इसीका साक्षी उसका प्रत्येक काम होता है। उसके प्रत्येक साधारण कामसे मालूम होता है कि वह जीवनको किस रूपमें देखता है। ऐसा विज्ञान अवश्य ही व्यावहारिक होगा। इसकी सहायतासे हम अपने दृष्टिकोण और भावनाओंमें परिवर्तन और सुधार ला सकते हैं।

जीवन एक रचनात्मक शक्ति है, जो विकासकी इच्छा महत्वाकांक्षा और सफलताके प्रयत्नमें दिखाई पड़ती है। यह शक्ति प्रयोजनात्मक होती है; अर्थात्—उसमें उसका एक उद्देश्य होता है। इस प्रयोजनका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जीवन, यदि एक दिशामें असफल होता है, तो इस कमीको दूसरी दिशामें सफलता प्राप्त करके पूरी करता है। इससे यही जान पड़ता है कि

उसके जितने अङ्ग हैं, वे सब एक ही उद्देश्यकी पूर्तिमें पारस्परिक सहयोग करते हैं। शारीरिक-क्षेत्रमें देखा जाता है कि शरीरके सब अङ्ग इस प्रकार सहयोग करते हैं, जिससे शरीरके सब अङ्गोंकी रक्षा और उसका विकास हो। इसके अतिरिक्त जब किसी अङ्गमें कोई दोष या अपूर्णता होती है, तो प्रकृति उस कमीको पूरा करनेके लिए विशेष चेष्टा करती है और यदि उस अङ्गकी पूर्ति नहीं हो सकती, तो प्रकृति दूसरे अङ्गको इस प्रकार विकसित करती है कि उससे दोष पूर्ण अङ्गका भी काम चल सके।

मानसिक जीवन भी शारीरिक जीवनके समान ही है। प्रत्येक व्यक्तिके मनमें किसी-न-किसी आदर्शकी कल्पना अवश्य होती है, यह आदर्श उसे वर्तमान अवस्थासे आगे ले जाता है, और वर्तमान अवस्थाकी आपूर्णताओं और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करनेका साहस प्रदान करता है। इस आदर्शके कारण वह व्यक्ति अपनी वर्तमान कठिनाइयोंको तुच्छ समझता है; क्योंकि उसके मनमें उसकी भावी सफलता प्रकाशमान रहती है। बहुतसे प्रमाणोंसे यह पता चलता है कि यह आदर्श बाल्यावस्थामें ही व्यक्तिके हृदयमें स्थिर हो जाता है, और उसी समय उसका आकार-प्रकार निश्चित-सा हो जाता है। विकसित जीवनका एक नमूना उसके सामने उपस्थित होने लगता है। यह कैसे होता है, इसका अनुमान हम इस प्रकार कर सकते हैं—बच्चा किसी बातमें कमजोर होता है, वह अपनी इस कमीको महसूस करता है, उसे दूसरोंके मुकाबिलेमें अपनी इस हीनताका अनुभव होता है, वह इस बातको सहन नहीं कर सकता; इसलिये वह अपने विकासका प्रयत्न करता है, और यह प्रयत्न उसी आदर्शकी ओर होता है, जिसे उसने अपने लिए चुन लिया है। वह इस समय किस चीज या किस बातको लेकर अपने आदर्शका साधन बनाता है, यह कोई महत्व की बात नहीं है। मूल वस्तु स्वयं वह आदर्श है; क्योंकि उससे जीवनकी एक

दिशा निश्चित हो जाती है। इस दिशाको देखकर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि भविष्यमें इसका क्या परिणाम होगा। जब यह मूर्त्त आदर्श स्थिर हो जाता है, तो उसके बादसे व्यक्तिके जितने अनुभव होते हैं, सब साँचेमें ढल-कर होते हैं। उसके बाद वह सच्चा निष्पक्ष होकर किसी भी स्थितिको वास्त-विक रूपमें नहीं देखता; बल्कि उसी दृष्टिकोणसे, उसी रूपमें, उसी अङ्गको देखता है, जो उसके आदर्शोंके अनुसार होता है।

इस सम्बन्धमें बड़ी मनोरञ्जक बात यह है कि बच्चे अपने सभी अनुभवों का अपने शारीरिक दोषोंसे सम्बन्ध मिलाते हैं। जैसे, जिस बच्चेको कोई पेटकी बीमारी होती है, उसका भोजनकी ओर बड़ा ही आकर्षण होता है। और यदि किसीकी आँख खराब होती है, तो वह देखनेकी चीजोंमें ही अधिक दिलचस्पी लेता है। इस प्रकार यदि हम किसी बच्चेके सम्बन्धमें यह जानना चाहें कि उसका आकर्षण किस ओर है, तो उसके कमजोर अङ्गोंकी ओर देखने से ही यह बात मालूम हो जायगी; किन्तु इतनेसे ही उसका जीवन-मार्ग पूर्ण रूपसे नहीं जाना जा सकता; क्योंकि बच्चा अपने इस दोषको भी अपने विशेष दृष्टिकोणसे देखता है न कि हमारे दृष्टिकोणसे। उसकी जीवन-प्रणाली बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि वह स्वयं अपने दोषके सम्बन्धमें क्या भावना बनाए हुए है।

अगर हम बच्चेके दृष्टि-कोणमें कोई सुधार करना चाहें, तो हमें उसी समय ज्यादा आसानी जान पड़ेगी, जब कि उसके आदर्शका निर्माण हो रहा हो। यदि हम उस समय उसको न सुधारें, तो पीछे उस नींवपर जितना जीवन बनाया जा चुका है, सबको गिराकर प्रारम्भिक अवस्थाको वापस लाए बिना काम नहीं चल सकता। इसलिए, यदि हम बचपनके बाद किसी व्यक्तिको सुधारना चाहें, तो उन छोटी-छोटी गलतियोंको देखनेसे काम न चलेगा, जो

वह उस समय करता है। हमें प्रारम्भिक जीवनकी गलतियोंका ही पता लगाना होगा। यदि इसका पता लग जाय, तो उनका सुधार अवश्य हो सकता है। इस विज्ञानके प्रकाशमें जन्म परम्पराका बहुत कम महत्त्व हो जाता है। शारीरिक दोषोंका कारण वंश-परम्परा ही है; लेकिन, हम जो कुछ जन्म लेकर आते हैं; उनका उपयोग बचपनमें किस प्रकार होता है—यही मूल बात है। हमारा काम यह है कि दोषके कारण बच्चेको जो कठिनाई पड़ रही हो, उसे दूर करें और उसे ऐसी परिस्थितिमें रख दें, जिससे उस कठिनाईका अनुभव न हो सके। सच्ची बात तो यह है कि यहां पर जन्म-संस्कारसे हमें कोई बाधा न मिल कर बड़ी सहायता मिलती है; क्योंकि जैसे ही हम उस दोषको देखते हैं, हमें अपना कर्तव्य मालूम हो जाता है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि जिस बच्चेमें कोई भी जन्मगत दोष नहीं होता, उसका जीवन पालन-पोषणकी भूलोंके कारण इतना खराब हो जाता है, जितना सदोष बच्चेका भी नहीं होता।

सदोष बच्चोंके सम्बन्धमें उनकी मानसिक परिस्थिति ही सर्वापेक्षा महत्वपूर्ण है। जिस बालकके आदर्शका निर्माण होता रहता है, उस उम्रकी एक विशेषता यह भी है कि बच्चा दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें अधिक दिलचस्पी लेता है। यदि वह कठिन परिस्थितिमें पड़ जाय, तो उसका आत्म-निन्दाका भाव बहुत बढ़ जाता है और उसका बादका जीवन भी समाजिक नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त केवल शारीरिक दोषोंके ही कारण जीवन-प्रणाली नष्ट नहीं होती; अन्य कई प्रकारकी परिस्थियोंका भी यही परिणाम होता है; जैसे—कुटुम्बके सब लोगोंकी बच्चेके प्रति उपेक्षा या बहुत ज्यादा लाड़-प्यार। इन तीनों प्रकारसे बच्चोंका जीवन निरुद्ध और आशंकायुक्त होता है। वे पद-पद पर बाधाओंका अनुभव और विघ्नोंकी आशंका करते हैं; क्योंकि वे ऐसी परिस्थितिमें

पाले गए हैं, जिसमें उन्हें आत्मावलम्बन सीखनेका अवसर नहीं प्राप्त हो सका।

संसारमें कठिनाइयां तो हैं ही; परन्तु साहस और आत्म-विश्वाससे ये जीती जा सकती हैं। इसके लिये सामाजिक भावना बहुत आवश्यक है और इसे बचपन ही से ध्यानमें रखना चाहिये। जीवनकी सभी समस्याएँ सामाजिक होती हैं; अतः सामाजिक व्यवहारके लिए तैय्यार रहना जरूरी है। जिस व्यक्तिमें समाज-भावना पर्याप्त मात्रामें नहीं होती, वह इसके सामने हार मान लेता है और जीवनकी समस्याओंके प्रति ऐसा दृष्टिकोण बना लेता है, जो उसे अनुपयोगी जीवनकी ओर ले जाता है; जैसे—उन्माद, शराबखोरी, व्यभिचार इत्यादि। ऐसे व्यक्तियोंके हृदयमें समाजके अन्य व्यक्तियोंके प्रति विश्वास और दिलचस्पी पैदा करना ही सबसे अधिक आवश्यक है; ताकि वह उपयोगी जीवनकी ओर जा सके। और उपर्युक्त तीन प्रकारके बच्चोंमें इसी प्रकारकी कमी होती है।

समाज-भावनाके बाद हमें व्यक्तिकी कठिनाइयों पर ध्यान देना चाहिये। एक लाड़ले बच्चेका उदाहरण लीजिये। साफ बात है कि वह जीवनकी कठिनाइयोंके लिए तैय्यार नहीं किया जा रहा है। स्कूलमें जाते ही पहले-पहल समाजकी समस्या उसके सामने आती है। वह अपने साथियोंसे खेल-कूद, लिखने-पढ़ने या अन्य किसी बातमें सहयोग नहीं कर सकता; बल्कि वह तो इन स्थितियोंसे घबड़ाता है, और अपने घरके लाड़-प्यारकी अवस्थाको और अधिक मात्रामें चाहता है; किन्तु जीवनमें ऐसा नहीं है। उसकी इस निराशाके कारण हमीं हैं, न कि जन्म-संस्कार; क्योंकि हम उसकी प्रकृतिका ज्ञान उसके आदर्श और जीवन-प्रणालीकी परीक्षा द्वारा कर सकते थे।

इसके बाद भावोंके अध्ययनका महत्त्व है! जीवन-प्रणालीका इनपर भी प्रभुत्व होता है। ये भी जीवन-प्रणालीके अनुसार ही होते हैं। यह एक

विचित्र बात है कि लोग अपने कामोंका समर्थन अपने भावोंसे करते हुए अक्सर देखे जाते हैं। अगर कोई व्यक्ति उपकार करना चाहता है, तो उसके सब भावोंपर इस बातकी छाप रहती है। यही विचार उसके समस्त हृदयमें व्याप्त हो जाता है; इसलिये मनुष्यके भाव उसके मूल दृष्टिकोणसे सदैव संगति रखते हैं और उसे अपने काममें शक्ति प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त इनका और कोई काम नहीं है। इनकी वजहसे कोई काम नहीं होता—ये केवल हमारे कर्मोंके सहयोगी होते हैं।

इस बातको हम स्वप्नोंमें अच्छी तरह देख सकते हैं। इस विज्ञानमें स्वप्नों के प्रयोजनकी खोज बहुत हाल्की बात है! इसके अनुसार प्रत्येक स्वप्न एक भाव पैदा करनेके लिये होता है और इसके बाद वह भाव स्वप्नको आगे बढ़ाता है। यह स्वप्न हमारे जाग्रत जीवनके व्यवहारकी तैय्यारी या आवृत्ति मात्र है। हम जैसा व्यवहार करना चाहते हैं, वैसा ही स्वप्नोंमें देखते हैं। इस बातसे उस पुराने विचारकी पुष्टि होती है, जो स्वप्नको एक धोखा बतलाता है। जाग्रत-जीवनमें भी हम अपनेको भावोंके धोखेमें बड़ी जल्दी डाल देते हैं। इस प्रबल प्रवृत्तिका अर्थ यही है कि हम अपने बचपनके—चौथे या पांचवें वर्षकी उम्रके—बने आदर्शोंके अनुसार चलना चाहते हैं।

इसके बाद आदर्शकी परीक्षाका प्रश्न आता है। यह बतलाया जा चुका है कि चार या पांच वर्षकी उम्र तक ही आदर्शका निर्माण हो जाता है; इसलिये हमें उस अवस्थाके और उसके पहलेके प्रभावोंपर विचार करना पड़ेगा। अनेक प्रकारके प्रभाव बच्चेपर पड़ सकते हैं। एक बहुत व्यापक प्रभाव माता-पिताकी निर्दयता और दमनका पड़ता है। जिससे बच्चेके मनमें क्रान्ति पैदा हो जाती है। इसका परिणाम यह हो सकता है कि आगेके जीवनमें वह तेज़ मिजाज़ आदमियोंसे एक स्थायी विच्छेद पैदा कर ले। माताकी ताड़नाके कारण, सम्भव

है कि वह स्त्री जातिसे ही घृणा करने लगे। यह घृणा कई प्रकारसे व्याप्त हो सकती है। वह अस्वाभाविक काम विकारोंका शिकार बन जा सकता है, जो कि स्त्री जातिसे विच्छिन्न होनेका ही दूसरा रूप है। या वह अत्यन्त लज्जाशील हो जाय। ये सब अप्राकृतिक विकार जन्मगत नहीं होते। ये बचपनकी परिस्थितिसे ही पैदा होते हैं। माता-पिता संकोचवश अपने अनुभवोंका लाभ बच्चोंको उठाने नहीं देते और बच्चा सदुपदेश तथा उचित नियमनके अभावमें अपने नाशकी ओर स्वच्छन्दतासे चला जाता है।

एक ही कुटुम्बके बच्चोंकी परिस्थितिमें भी परस्पर बड़ा अन्तर होता है। अपने माता पिताका पहला बच्चा पहले अकेला ही, उनके समूचे प्रेमका अधिकारी होता है। जब दूसरा बच्चा पैदा होता है, तो पहला बच्चा अवश्य ही अपने पदको खो देता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस विपत्तिका उसके हृदय पर बड़ा दुःखमय प्रभाव पड़ता है। और यह प्रभाव उसकी बनती हुई जीवन-प्रणालीमें प्रविष्ट हो जाता है। ऐसे बच्चोंका जीवन प्रायः असफल देखा जाता है।

इसी तरह लड़के और लड़कियोंके प्रति हमारे दृष्टिभेदका भी बड़ा दुष्परिणाम होता है। लड़कोंकी जितनी कद्र होती है, लड़कियोंकी उतनी ही उपेक्षा। उनको किसी योग्य नहीं समझा जाता। ऐसे वायु-मण्डलमें पड़कर उनमें आत्म-विश्वास नहीं पैदा हो सकता। उनकी यही भावना दृढ़ होती जाती है कि वे किसी पुरुषार्थके लिए बनाई ही नहीं गई हैं। इससे उनका जीवन बड़ा साहसहीन और आशंकामय हो जाता है।

दूसरे बच्चेकी भी एक विशेषता होती है। पहले बच्चेसे वह बिलकुल ही भिन्न स्थितिमें होता है। उसके सामने वह आरम्भसे ही एक प्रतिद्वन्दीके रूपमें रहता है। यह प्रतिद्वन्द्विता उसे प्रयत्नशील बनानेकी प्रेरणा करती है।

विचित्र बात है कि लोग अपने कामोंका समर्थन अपने भावोंसे करते हुए अक्सर देखे जाते हैं। अगर कोई व्यक्ति उपकार करना चाहता है, तो उसके सब भावोंपर इस बातकी छाप रहती है। यही विचार उसके समस्त हृदयमें व्याप्त हो जाता है; इसलिये मनुष्यके भाव उसके मूल दृष्टिकोणसे सदैव संगति रखते हैं और उसे अपने काममें शक्ति प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त इनका और कोई काम नहीं है। इनकी वजहसे कोई काम नहीं होता—ये केवल हमारे कर्मोंके सहयोगी होते हैं।

इस बातको हम स्वप्नोंमें अच्छी तरह देख सकते हैं। इस विज्ञानमें स्वप्नों के प्रयोजनकी खोज बहुत हाल्की बात है! इसके अनुसार प्रत्येक स्वप्न एक भाव पैदा करनेके लिये होता है और इसके बाद वह भाव स्वप्नको आगे बढ़ाता है। यह स्वप्न हमारे जाग्रत जीवनके व्यवहारकी तैय्यारी या आवृत्ति मात्र है। हम जैसा व्यवहार करना चाहते हैं, वैसा ही स्वप्नोंमें देखते हैं। इस बातसे उस पुराने विचारकी पुष्टि होती है, जो स्वप्नको एक धोखा बतलाता है। जाग्रत-जीवनमें भी हम अपनेको भावोंके धोखेमें बड़ी जल्दी डाल देते हैं। इस प्रबल प्रवृत्तिका अर्थ यही है कि हम अपने बचपनके—चौथे या पांचवें वर्षकी उम्रके—बने आदर्शोंके अनुसार चलना चाहते हैं।

इसके बाद आदर्शकी परीक्षाका प्रश्न आता है। यह बतलाया जा चुका है कि चार या पांच वर्षकी उम्र तक ही आदर्शका निर्माण हो जाता है; इसलिये हमें उस अवस्थाके और उसके पहलेके प्रभावोंपर विचार करना पड़ेगा। अनेक प्रकारके प्रभाव बच्चेपर पड़ सकते हैं। एक बहुत व्यापक प्रभाव माता-पिताकी निर्दयता और दमनका पड़ता है। जिससे बच्चेके मनमें क्रान्ति पैदा हो जाती है। इसका परिणाम यह हो सकता है कि आगेके जीवनमें वह तेज़ मिजाज़ आदमियोंसे एक स्थायी विच्छेद पैदा कर ले। माताकी ताड़नाके कारण, सम्भव

है कि वह स्त्री जातिसे ही घृणा करने लगे। यह घृणा कई प्रकारसे व्याप्त हो सकती है। वह अस्वाभाविक काम विकारोंका शिकार बन जा सकता है, जो कि स्त्री जातिसे विच्छिन्न होनेका ही दूसरा रूप है। या वह अत्यन्त लज्जाशील हो जाय। ये सब अप्राकृतिक विकार जन्मगत नहीं होते। ये बचपनकी परिस्थितिसे ही पैदा होते हैं। माता-पिता संकोचवश अपने अनुभवोंका लाभ बच्चोंको उठाने नहीं देते और बच्चा सदुपदेश तथा उचित नियमनके अभावमें अपने नाशकी ओर स्वच्छन्दतासे चला जाता है।

एक ही कुटुम्बके बच्चोंकी परिस्थितिमें भी परस्पर बड़ा अन्तर होता है। अपने माता पिताका पहला बच्चा पहले अकेला ही, उनके समूचे प्रेमका अधिकारी होता है। जब दूसरा बच्चा पैदा होता है, तो पहला बच्चा अवश्य ही अपने पदको खो देता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस विपत्तिका उसके हृदय पर बड़ा दुःखमय प्रभाव पड़ता है। और यह प्रभाव उसकी बनती हुई जीवन-प्रणालीमें प्रविष्ट हो जाता है। ऐसे बच्चोंका जीवन प्रायः असफल देखा जाता है।

इसी तरह लड़के और लड़कियोंके प्रति हमारे दृष्टिभेदका भी बड़ा दुष्परिणाम होता है। लड़कोंकी जितनी कद्र होती है, लड़कियोंकी उतनी ही उपेक्षा। उनको किसी योग्य नहीं समझा जाता। ऐसे वायु-मण्डलमें पड़कर उनमें आत्म-विश्वास नहीं पैदा हो सकता। उनकी यही भावना दृढ़ होती जाती है कि वे किसी पुरुषार्थके लिए बनाई ही नहीं गई हैं। इससे उनका जीवन बड़ा साहसहीन और आशंकामय हो जाता है।

दूसरे बच्चेकी भी एक विशेषता होती है। पहले बच्चेसे वह बिलकुल ही भिन्न स्थितिमें होता है। उसके सामने वह आरम्भसे ही एक प्रतिद्वन्दीके रूपमें रहता है। यह प्रतिद्वन्द्विता उसे प्रयत्नशील बनानेकी प्रेरणा करती है।

इस दौड़में दूसरा बच्चा आम तौरसे विजयी होता है; क्योंकि पहला बच्चा तो, जैसा ऊपर दिखलाया गया है, निराश होकर ज़िद्दी हो जाता है और इस होड़से भयभीत रहता है। इससे वह असफल होता है और माता-पिताका स्नेह भी खो बैठता है। इधर दूसरा बच्चा अपने उत्साहके कारण उस स्नेहको प्राप्त कर लेता है। हमेशासे प्रतिद्वन्द्वितामें रहनेके कारण दूसरे बच्चेका जीवन क्रान्तिमय होता है। वह शक्ति और नियमनका विरोधी होता है।

इतिहासमें सबसे छोटे लड़केकी शक्तिमत्ताके बहुतसे उदाहरण मिलते हैं। गल्प-साहित्यमें भी हम सबसे छोटे बच्चोंको ही प्रधान पात्र पाते हैं। बचपन-का स्वाभाव बादको तबतक नहीं बदला जा सकता, जबतक कि उस व्यक्तिके अन्तर्ज्ञानका विकास न हो। उसमें सुधार करनेके लिये, उसे यह समझना पड़ेगा, कि उसके बचपनकी परिस्थितिका उसपर कैसा बुरा प्रभाव पड़ा है और वह परिस्थिति उसके जीवनको किस प्रकार गलत रास्तेपर ले जा रही है।

किसीकी प्रकृतिको समझनेके लिये पुरानी-से-पुरानी स्मृतियाँ बड़े कामकी होती हैं। विज्ञान बतलाता है, कि सबसे अधिक वही चीजें याद रहती हैं, जिनका हमारी प्रकृतिसे सम्बन्ध है। यदि किसी बच्चेको कोई ऐसी बात याद रहे, जिसका खाने-पीनेसे सम्बन्ध हो, तो हम जान सकते हैं, कि बचपनमें उसका पेट कमजोर रहा होगा। इसी तरह किसी बच्चेको दूसरे बच्चेका पैदा होना या अपने माता-पितासे मार खाना, या, अपने स्कूलमें अपने प्रति अपने साथियोंकी उपेक्षा ही याद रह सकती है। इन बातोंसे बहुत कुछ पता चलता है।

यहाँ पर यह भी कह देना अप्रासङ्गिक न होगा, कि बच्चोंको सजा या उपदेश देनेसे कुछ काम नहीं चल सकता। बच्चेकी प्रकृतिमें कौन-सी ऐसी बात है जिसमें परिवर्तन करना होगा—यह जानना ही आवश्यक है। बच्चा

इस बातको न समझ कर दमनसे कायर, और चालबाज हो जाता है; क्योंकि दमन उसकी प्रकृतिमें कोई परिवर्तन नहीं ला सकता। जबतक आपको बच्चेकी प्रकृति नहीं मालूम है,तबतक आप उसका कोई उपकार नहीं कर सकते। जीवनके अगले अनुभवोंसे इस प्रकृतिमें परिवर्तन नहीं हो सकता। पहले बताया ही जा चुका है कि व्यक्तिके सारे अनुभव उसके विशेष दृष्टिकोणके अनुसार ही होते हैं।

इस प्रकार प्रायः लोग अपनी एक पृथक् व्यक्तिगत बुद्धि बना लेते हैं, जिसका दृष्टिकोण समाजके अन्य व्यक्तियोंकी बुद्धिसे बिल्कुल पृथक होता है और इसलिये वह समाजके लिये अनुपयोगी होती है। चाहे वह बुद्धि कितनी ही प्रखर क्यों न हो, हम उसे व्यावहारिक बुद्धि नहीं कहते। अक्सर हम ऐसे लोगोंको पाते हैं, जिनकी बुद्धि प्रखर कही जा सकती है। किसी भी सवालका वे उचित उत्तर दे सकते हैं और किसी भी कठिन समस्याको ठीक हल कर सकते हैं; पर उनकी बुद्धिसे आत्मग्लानि या आत्म-निन्दाका परिचय मिलता है। इससे जान पड़ता है, कि प्रखर बुद्धि होना एक बात है और व्यावहारिक बुद्धि होना बिल्कुल दूसरी बात। व्यवहार-बुद्धि समाज-भावनाकी परिचायक है। व्यक्तिगत बुद्धि इससे विपरीत अव्यावहारिक और निरर्थक होती है; इसलिये यह अक्सर उन्माद-ग्रस्त व्यक्तियोंमें पाई जाती है। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति तारके खम्भोंको गिनते हुए चलनेकी निरर्थकताको खूब समझता है, फिर भी बिना ऐसा किये रह नहीं सकता।

व्यावहारिक सामान्य बुद्धि और निजी विशेष बुद्धिमें एक बड़ा भेद यह होता है, कि विशेष बुद्धि वालेको अपने दृष्टिकोणको छोड़कर दूसरोंके दृष्टिकोण-से किसी बातका औचित्य या अनौचित्य समझना असम्भव हो जाता है। और चूंकि दूसरोंकी दृष्टिमें उसके कर्म बिल्कुल स्पष्ट रहते हैं; इसलिये उसका यह अज्ञान हास्यास्पद हो जाता है।

उदाहरणके लिए किसी दुष्ट आदमीको लीजिए। वह अपनेको असाधारण बुद्धिमान् और साहसी वीर समझता है; क्योंकि उसने समाजको और समाज-रक्षक पुलिसको धोखा दे दिया है। उनका शासन स्वीकार नहीं किया और उनपर विजय पायी। वह यह नहीं जानता कि वस्तुस्थिति ठीक इसके विपरीत है। उसको दुष्ट जीवनसे बचानेका सबसे बड़ा तरीका यही है कि उसको यह बात समझा दी जाय कि उसकी असामाजिक प्रवृत्ति, जिसके कारण वह निरर्थक जीवन बिता रहा है, उसकी साहस-हीनता और कायरताकी परिचायक है।

अनुपयोगी जीवनवाले प्रायः एकान्त और अन्धेरेसे डरते हैं। वे दूसरोंके साथ रहना चाहते हैं। यह उनकी साहस-हीनताका एक बड़ा प्रमाण है।

यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि तीस वर्षकी उम्रके करीब प्रायः दुष्ट प्रकृतिके लोग कोई पेशा अख्तियार कर लेते हैं। वे विवाह कर लेते हैं, और अच्छे नागरिक बन जाते हैं। इसका कारण यह है कि इस उम्रमें वे अपनेसे छोटी उम्रके बदमाशोंके मुकाबिलेमें सफल नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त इस समय उन्हें पहलेकी अपेक्षा दूसरे प्रकारसे जीवन-निर्वाह करना पड़ता है और इसलिये अपने पेशेसे उन्हें अब कोई सहायता नहीं मिलती।

दुष्ट वृत्ति वालोंके सम्बन्धमें एक बात और जान लेनी चाहिए। जितना ही अधिक दण्ड उन्हें दिया जायगा, डरनेके बजाय अपनी वीरतामें उनका विश्वास उतना ही बढ़ता जायगा! हमें यह न भूलना चाहिए कि वे अपनी एक अलग दुनियामें रहते हैं, ऐसी दुनियामें, जहाँ उन्हें सामाजिक हानि-लाभ समझनेका माद्दा नहीं रहता और जहाँ उनमें आत्म-विश्वास पैदा ही नहीं हो सकता। इस प्रकारके लोग समाजमें सम्मिलित ही नहीं हो सकते। विक्षिप्त लोग कभी कोई क्लब नहीं कायम करते। जो लड़के या पुरुष आत्म-घात करते हैं, वे कभी मिलनसार नहीं होते। इसका कारण यही है कि उनके बचपनका

जीवन बड़ा असामूहिक रहा है, जिससे उनकी प्रकृति गलत आदर्शोंकी ओर चली गई है और जीवनमें अनुपयोगी मार्गका अनुसरण कर रही है।

अब हम संक्षेपमें यह देख सकते हैं, कि इस विज्ञानके अनुसार विक्षिप्त व्यक्तियों, बच्चों, अपराधियों और शराबखोरोंकी शिक्षा और नियमनके लिए क्या करना चाहिए, जो अपने-अपने तरीकेसे, उपयोगी जीवनसे भाग रहे हैं। पहले यह जानना चाहिए कि व्याधिकी उत्पत्ति किस समय हुई। प्रायः हम किसी नई स्थिति या नई घटनाको कारण समझ बैठते हैं; किन्तु वास्तवमें यह घटना कोई चीज नहीं है। परीक्षा करने पर हमें यह मालूम होगा कि इस घटनाके लिए वह व्यक्ति पहलेसे ही तैयार न था। उसका मुकाबिला करनेकी सामर्थ्य उसमें पहलेसे ही नहीं थी। उसकी यही अशक्ति उसके रोगका मूल कारण है। जबतक परिस्थिति उसकी प्रकृतिके अनुसार रही, तबतक उसकी यह निर्बलता छिपी हुई थी। असमञ्जस परिस्थितिके आते ही उसकी प्रकृतिकी असमर्थता अपने आप प्रकट हो गई। हरएक नई परिस्थिति व्यक्तिके लिए एक परीक्षाके समान है, जिसका वह अपने विशेष दृष्टिकोणसे सामना करता है। उसके कार्य रचनात्मक और आदर्शकी ओर ले जानेवाले होते हैं। उस परिस्थितिमें जहाँतक उसके आदर्शकी ओर जानेका माद्दा होता है, वहांतक वह उसे तोड़-मरोड़ कर उस आदर्शके अनुसार बना लेता है; इसलिये दृष्टिकोणको ही बदलना जरूरी है।

आदर्शकी बातको ज़रा साफ कर देना आवश्यक है। अन्ततोगत्वा हर एक व्यक्तिका आदर्श सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही होता है; किन्तु यह अन्तिम आदर्श है। शिक्षकोंके लिये अपने बच्चोंको इस आदर्शपर चलनेमें और स्वयं उसपर चलनेमें बड़ी सावधानीकी जरूरत है। अपने विकासमें ऐसे अमूर्त्त-आदर्शपर न जाकर, बच्चे तत्काल किसी मूर्त-आदर्शको ग्रहण कर लेते हैं। उनकी परिस्थिति

में जो सबसे शक्तिशाली व्यक्ति होता है, वही उनका आदर्श होता है। अगर कुटुम्बमें माँकी ही शक्तिकी प्रधानता है, तो बच्चा अक्सर लड़का होते हुए भी हर बातमें माँका ही अनुकरण करता है। परिस्थितिके विस्तारके साथ बच्चोंके आदर्श भी नए रूप ग्रहण करते रहते हैं। जैसे—कुटुम्बसे निकलकर वह कोचवानको आदर्श मानने लगता है, उस समय वही उसको सर्वशक्तिमान् दिखलाई देता है; लेकिन जब पुलिसके सामने कोचवानकी असमर्थता दिखाई देती है, तब कोचवान बच्चोंकी आंखोंमें अपना सम्मान खो बैठता है। इसके बाद डाक्टर या शिक्षिक उसका आदर्श हो सकता है। शिक्षकमें सजा देनेकी शक्तिके कारण उन्हें श्रद्धा हो जाती है।

बच्चोंके चुने हुए ये मूर्त-आदर्श उनकी समाज-भावनाके सूचक होते हैं। एक बच्चेने बतलाया था—'मैं अपने जीवनमें जल्लाद होना चाहता हूं।' वह जीवन और मरणका स्वामी होना चाहता था। यह भी ईश्वरकी भावनाका एक रूप है ; लेकिन इस रूपमें उसकी आकांक्षा अनुपयोगी, समाज-विरुद्ध और हेय थी ; क्योंकि वह समाजसे भी अधिक शक्तिमान् होना चाहता था। इसी भावनाका दूसरा रूप चिकित्सक होनेकी इच्छा है। यहाँ भी ईश्वरके समान ही जीवन और मृत्युका स्वामी होनेका सङ्कल्प दिखाई देता है ; किन्तु इस आदर्श-की प्राप्ति समाज सेवा द्वारा होनेके कारण इसकी हेयता जाती रहती है, और वह मार्ग उपादेय हो जाता है।

३

आत्मग्लानिका व्यावहारिक निरूपण

एक विवाहित आदमी जिसकी उम्र चालीस वर्षकी थी, एक मानसिक व्याधिसे पीड़ित था । उसे बराबर इच्छा हुआ करती थी कि वह खिड़कीमेंसे कूद पड़े । उसे इस इच्छाके विरुद्ध बराबर लड़ना पड़ता था। यही आशंका उसकी व्याधि थी । अन्य सभी मामलोंमें वह बिलकुल स्वस्थ था । इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि वह बोधपूर्वक तो आत्म-हत्या करना चाहता था; पर अबोध-पूर्वक उस इच्छाका विरोध करता था । इस तरहसे वह अपनी आत्म-हत्याकी इच्छापर विजयी हुआ । अपनी इस विजयसे उसकी महत्वाकांक्षाकी तृप्ति हुई, यद्यपि उसके विजयका कारण उसकी कमजोरी ही थी । जो लोग सामाजिक व्यवहारमें आत्म-ग्लानिके शिकार बन जाते हैं, उनमें ऐसा बहुत होता है । वे लोग अपनी निजी लड़ाईमें ही अपनी शक्ति-तृष्णाको शान्त करते हैं । फिर भी यह बात महत्त्व की है कि वह अपनी आत्मग्लानिपर विजय प्राप्त कर सका ।

अब हमें अपने पूर्व-कथित सिद्धान्तोंकी परीक्षा करनी चाहिए। पहले उसके बचपनकी स्मृति को लीजिए। उससे पता चला कि स्कूलमें उसे बड़ी कठिनाई पड़ी थी। दूसरे लड़कोंसे उसे प्रेम नहीं था। वह उनसे दूर भागता था; लेकिन अपनी पूरी शक्ति लगाकर वह उनके मुकाबिलेमें स्थिर रहा। यहीं पर हम उसके अन्दर अपनी कमज़ोरीपर विजयी होनेका बीज देखते हैं।

उसके चरित्रका विश्लेषण करनेसे मालूम हुआ कि भय और आशंकाको जीतना ही उसके जीवनका एकमात्र उद्देश्य बना हुआ था और इसमें जो कुछ सफलता मिली थी, उसका कारण इसके सिवाय कुछ नहीं था कि उसका अव्यक्त मन उसके व्यक्त मनकी सहायता कर रहा था। नहीं तो व्यक्त मनकी कमजोरी उसे जीवन-संग्राममें परास्त ही कर देती; इसलिए हमें व्यक्तिके मनके दोनों पक्षोंकी सहयोगिताका विचार सदैव रख लेना चाहिए। जो लोग व्यक्तिके जीवनके सब अङ्गोंकी एकताका अनुभव नहीं करते और व्यक्त एवं अव्यक्त चित्तको सर्वथा भिन्न और विरोधी समझते हैं, वे तो उस व्यक्तिके सम्बन्धमें यह धारणा बना लेगें कि वह महत्वाकांक्षी होते हुए भी स्वभावतः कायर था और इसीलिये अपने अन्दर ही अपनी आकांक्षा तृप्त किया करता था; किन्तु वास्तविक बात यह है कि वह अपनेको सामाजिक जीवनके लिए तैय्यार कर रहा था। और इसके लिए पहले अपनी असामाजिक आत्मग्लानिको जीतना जरूरी था। दूसरी जरूरी बात यह है कि व्यक्तिको उसकी परिस्थितिसे बिलकुल पृथक् करके न देखा जाय। बच्चा जब पैदा होता है, तब वह असहाय और निर्बल रहता है; इसलिए दूसरोंके द्वारा उसकी रक्षा जरूरी हो जाती है। इस समय जो लोग उसकी देख-रेख करते हैं, और उसके श्रद्धाके भाजन बनते हैं, उनका विचार किये बिना, बच्चेकी जीवन-प्रणाली नहीं समझी जा सकती।

जिस तरह बच्चेकी कमजोरीके कारण उसके लिए कुटुम्ब आवश्यक है, उसी तरह प्रत्येक व्यक्तिके लिए यह समाज आवश्यक है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो सभी परिस्थितियोंके मुकाबिलेमें अकेला समर्थ हो। इसी-लिए आदमीमें सामूहिक जीवनकी बड़ी प्रबल प्रेरणा है। सामाजिक जीवनसे ही वह अपनी अपूर्णता और आत्महीनताको जीतता है।

सामाजिक जीवन व्यक्तिकी कमजोरियोंसे आरम्भ होता है। ये कमजोरियां सबकी समान नहीं होती ; पर इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्तिकी जन्म-प्राप्त कमजोरियाँ ही सब कुछ हैं, और उन्हींके अनुसार व्यक्तिकी परीक्षा करनी चाहिये। जब समाज सुसङ्गठित होता है, तो वह अवश्य ही व्यक्तियोंकी योग्य-ताओं और शक्तियोंको प्रोत्साहन देता है, जिससे व्यक्तिको इस बातका मौका मिलता है कि वह अपनी अशक्तियोंका दूसरी शक्तियोंके विकासके द्वारा परिमार्जन कर सके।

मनोविज्ञानका यही उद्देश्य है कि व्यक्तियोंको यह सिखलावे कि उन्हें समाजमें रहना चाहिए, और इस तरहसे रहना चाहिए कि वे अपनी-अपनी कमजोरियोंके दोष और दुष्परिणामका परिमार्जन कर सकें। सामाजिक विकासके इतिहाससे हम यह जानते हैं कि किस प्रकार व्यक्तियोंने समाजमें आकर अपनी कठिनाइयों को जीता। इस सम्बन्धकी बहुत-सी दिलचस्प बातें हैं। जब बच्चा अपनी इच्छाएँ पूरी नहीं कर सकता, तब वह दूसरोंको आकर्षित करनेके लिए किसी-न-किसी भाषाका प्रयोग करता है। यदि उसे कोई जरूरत ही न पड़े, तो वह बोलता ही नहीं। पहले कुछ महीनोंमें ऐसा ही होता है ; क्योंकि बच्चेकी सब जरूरतें, उसकी माताके द्वारा, बोलनेके पहले ही पूरी कर दी जाती हैं। ऐसे कई एक उदाहरण मिलते हैं। जिनमें बच्चे ६ वर्षकी उम्र तक नहीं बोले ; क्योंकि उन्हें इसकी ज़रूरत ही नहीं पड़ी। एक उदाहरण

गूँगे और बहरे माता-पिताके एक बच्चे का है। जब वह गिरता था, और उसे चोट लगती थी, तब वह बिना आवाजके रोता था ; क्योंकि अपने माता-पिताका ध्यान आकर्षित करनेके लिए आवाज़ बेकार थी। रोनेकी शकल बना लेनेसे ही काम चल सकता था।

इस तरह परिस्थितिका महत्व बहुत बढ़ जाता है। महत्वाकांक्षाका रूप समझनेके लिए और यह समझनेके लिए कि उसकी समाजसे क्या असमञ्जसता है, हमें सामाजिक परिस्थितिका निरीक्षण करना चाहिए। कुछ लोग अपनी भाषाकी खराबीके कारण ही सामाजिक व्यवहारके अनुपयुक्त होते हैं ; जैसे—हकलाने वाला आदमी। अगर उसके जीवनकी परीक्षा ली जाय, तो यह जान पड़ेगा कि वह आरम्भसे ही समाजके अनुकूल नहीं रह गया है। वह किसी काममें सहयोग नहीं करना चाहता था। और न उसे दूसरोंके सहयोगकी इच्छा थी। इसी कारण उसकी भाषाका उचित विकास नहीं हुआ है। वास्तवमें हकलानेमें दो प्रवृत्तियाँ होती हैं। एक दूसरोंके साथ मिलनेकी, दूसरी अलग रहने की।

जो लोग एकत्र समाजमें बोल नहीं सकते, उनका भी ऐसा ही मामला है। वे श्रोताओंको अपना विरोधी समझते हैं। और बहुसंख्यक श्रोताओंके सामने उनका आत्मविश्वास जाता रहता है। यह भय उसी व्यक्तिको न होगा, जो अपने और अपने श्रोताओंपर विश्वास रखता है।

आत्मग्लानिके भावका सामाजिकताकी शिक्षासे बड़ा सम्बन्ध है। यह भाव इसलिये पैदा होता है कि व्यक्ति अपनेको समाजके अनुकूल नहीं बनाता ; इसलिए सामाजिक जीवनकी शिक्षा देकर ही हम इसे दूर भी कर सकेंगे।

सामाजिकताकी शिक्षासे व्यावहारिक ज्ञानका बड़ा सम्बन्ध है। व्यावहारिक ज्ञानसे हमारा तात्पर्य समाजका एकत्र समष्टि ज्ञान है। व्यक्तिगत बुद्धिवाले इससे फायदा नहीं उठाते। ऐसे लोगोंको सामाजिक बातें समझना चाहिए।

प्रायः ऐसे लोग अपनी सहानुभूति दिखला कर सन्तुष्ट हो जाते हैं। उन्हें बतलाना चाहिए कि समाजमें उसके किये हुए कामोंका ही महत्त्व है।

अपनी कमजोरियोंका अनुभव और शक्तिकी लालसा सभीमें होती है; किन्तु अपनी-अपनी विशेष कमजोरियों और विभिन्न परिस्थितियोंके कारण प्रत्येक व्यक्तिका व्यवहार और गलतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। हरेक व्यक्ति गलतियाँ भी विशेष ढङ्गसे करते हैं और उसकी सफलताएँ भी विशेष ढङ्गकी होती हैं।

बँयहत्थे बच्चोंका उदाहरण लीजिए। दाहिने हाथकी शिक्षा न मिलनेके कारण वे अपनी इस विशेषताको अक्सर जानते ही नहीं। दाहिने हाथसे उनका काम ठीक नहीं हो पाता ; इसलिए वे बिगड़ जाते हैं, और भावी जीवनमें इस कमजोरीसे अपने ऊपर एक बोझ लदा हुआ समझते हैं। ऐसे बच्चोंको डाटना-फटकारना ठीक नहीं है। उनके दोनों हाथोंको कुशल बनाना चाहिए। बचपनमें वे इस बातसे पहचाने जा सकते हैं कि उनका बायाँ हाथ दाहिनेसे अधिक चलता है। दूसरी ओर यह भी होता है कि बच्चा दाहिने हाथमें अधिक दिलचस्पी लेने लगता है और बहुधा इस दिलचस्पीका परिणाम यह होता है कि वह चित्रकार या सुलेखक इत्यादि बन जाता है। ऐसे बच्चोंका इस कमजोरीसे फायदा ही है। कलाकी योग्यतामें अक्सर यह बात सहायक होती है। ऐसा बच्चा प्रायः महत्त्वाकांक्षी होता है और अपनी कमजोरीपर विजय पाता है; किन्तु यदि कठिनाइयां अधिक हुईं, तो वह द्वेषी स्वभावका हो जाता है। इस तरह उसकी आत्मग्लानि और बढ़ जाती है। सदाके संग्रामसे उसका यह भाव स्थायी हो जाता है कि उसे कमजोरी न दिखानी चाहिये। ऐसा व्यक्ति औरोंसे कहीं अधिक भारग्रस्त है।

बच्चेको भी यह मालूम हो जाना चाहिये, कि वह अपनी कमजोरियोंको कैसे जीत सकता है ; क्योंकि वह स्वयं इस बातको नहीं जानता। हर एक

बच्चेका उद्देश्य अलग होता है। कोई चित्रकार होना चाहता है, तो कोई दुनियासे ही अलग हो जाना चाहता है; क्योंकि दुनिया उसके अनुकूल नहीं पड़ती। किसीकी आँख कमजोर होती है, किसीके कान, किसीका पेट और किसीके फेफड़े। अपनी-अपनी कमजोरियोंकी ओर ही उनका ध्यान प्रवृत्त होता है। एक आदमीको दमा आता था। उसके हमले उसी वक्त होते थे, जब वह रातको अपने दफ्तरसे घर आता था। कारण पूछनेपर उसने बतलाया कि मेरी पत्नी बहुत ही सांसारिक है और मैं बड़ा आदर्शवादी; इसलिये हमारा मतभेद रहता है। घर आनेपर मैं शान्तिका आनन्द लेना चाहता हूँ। मेरी स्त्री सभा-सोसाइटियोंका आनन्द लेना चाहती है। घर रहनेसे घरमें पड़े रहनेकी शिकायत करती है। इस बातसे मुझे बड़ी चिढ़ होती है। और आवेगके मारे गला घुँटने लगता है।

उसके बचपनकी बातोंसे मालूम होता है कि किसी प्रकारकी कमजोरीके कारण उसको बहुत कसकर पट्टी बाँधी जाती थी, उससे उसे साँस लेनेमें तकलीफ होती थी। एक दाई थी, जो उसके पास बैठकर उसे सान्त्वना दिया करती थी। उसका चित्त इस बच्चेमें ही निवास किया करता था। वह अपनी कुछ चिन्ता नहीं करती थी। इस प्रकार बच्चे पर यह भाव अङ्कित हो गया था, कि उसे सदैव सान्त्वना और सुख दिया जायगा। चार वर्ष की उम्रमें एक बार जब वह दाई कहीं अन्यत्र जा रही थी, जब वह रोता हुआ उसके साथ स्टेशनतक गया था। दाईके चले जानेपर उसने अपनी माँसे कहा—अब मुझे संसारमें कोई आकर्षण नहीं है। उसका आदर्श वही व्यक्ति होता, जो उसे सदैव प्रसन्न करनेकी चेष्टा किया करता और उसीमें अपना सारा मन लगाये रहता। वह पूरी परिस्थितिका स्वामी होना चाहता था। अपनी बीमारीमें वह अपने बचपनकी इसी स्थितिकी आवृत्ति कर रहा था। इस प्रकार उसे कुछ

सफलता भी प्राप्त होती थी। जब उसका गला घुटने लगता था, तब उसकी पत्नी बाहर जानेका आग्रह छोड़ देती थी। इस प्रकार वह अपनी महत्त्व-तृष्णा-को शान्त करता था। ऊपरसे तो इस व्यक्तिका व्यवहार ठीक था; किन्तु उसके मनकी तहमें विजेता होनेकी इच्छा थी। वह अपनी पत्नीको आदर्शवादकी ओर ले जानेका विचार प्रकट करता था; किन्तु ऐसे व्यक्तिके प्रयोजनोंके सम्बन्धमें सन्देह कर लेना चाहिये। अक्सर उसके वाह्य और अन्तरमें बड़ा भेद रहता है।

अक्सर बच्चोंकी आँखमें दोष होता है। वे दृष्टिसम्बन्धी चीजोंमें अधिक दिलचस्पी लेने लगते हैं और इस क्षेत्रमें उनकी शक्ति भी बहुत विकसित हो जाती है। गस्टेव फ्रीटेग एक बड़ा भारी कवि था। उसकी आंखें खराब थीं। कवियों और चित्रकारोंकी आँखोंमें अक्सर दोष पाया जाता है और अक्सर इसी दोषसे उनको प्रेरणा मिलती है। फ्रीटैगने अपने विषयमें लिखा है—'मेरी आँखें दूसरे लोगोंसे भिन्न थीं। जान पड़ता है इसीलिये मुझे अपनी कल्पनाका प्रयोग करना पड़ा। मैं नहीं जानता कि इसीसे मैं एक बड़ा लेखक हो गया हूं। लेकिन इतना अवश्य हुआ, कि मैं कल्पनामें उससे अधिक देख सकता हूं, जितना और लोग वस्तुस्थितिमें देखते हैं।' हमारे यहाँ भी सूरदास के ऐसा श्रेष्ठ कवि हो गया है।

विभूतिमत् लोगोंके जीवनको देखनेसे हमें अक्सर आँखोंकी खराबी या ऐसी ही कमजोरियाँ मिलती हैं। अनेक देशोंके पुराणोंमें देवताओंतककी एक या दोनों आँखोंका अन्धापन दिखाया गया है। बहुतसे प्रतिभाशाली व्यक्ति करीब-करीब अन्धे होनेपर भी लाइनों, छायाओं और रङ्गोंका विवेचन आँख वालोंसे कहीं अच्छी तरह कर सकते हैं। इस बातसे मालूम होता है कि अगर बच्चोंकी कमजोरियोंको अच्छी तरह समझा जाय, तो हम उनके सम्बन्ध-

में क्या कर सकते हैं । कुछ लोगोंको भोज्य पादार्थोंमें विशेष दिलचस्पी होती है । ऐसे लोग भोज्याभोज्य-विवेचनमें बड़ा रस लेते हैं । प्रायः देखा जाता है कि इस मासलेमें लोगोंके बचपनकी स्थिति कठिनाई-पूर्ण होती है । शायद उनकी माता उनको कठिन संयममें रखती थीं । ये लोग अपने पेटकी कमजोरियोंका परिमार्जन करना चाहते हैं और अक्सर पाक-विद्यामें या भोजन-विज्ञान में निपुण हो जाते हैं ।

लेकिन कभी-कभी पेटकी कमजोरीके कारण लोगोंको भोजनके स्थानमें किसी अन्य वस्तुको मनोरञ्जनकी सामग्री बना लेना पड़ता है । कभी-कभी यह सामग्री धन होता है और ऐसे लोग बड़े कंजूस और मालदार हो जाते हैं । इस विशेष दिलचस्पीके कारण वह इस क्षेत्रमें औरोंसे आगे बढ़ जाते हैं । बड़ी विचित्र बात है कि प्रायः धनी आदमियोंको हम उदर व्याधियोंसे पीड़ित पाते हैं ।

यहाँपर एक बात समझ लेनी चाहिये कि किसी दोषका कोई एक ही निश्चित परिणाम नहीं होता । किसी शारीरिक दोष और गलत जीवन-प्रणालीमें कोई कार्यकारणका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है । शारीरिक कमजोरियोंको हम अंशतः अच्छी चिकित्सासे दूर कर सकते हैं ; किन्तु कुपरिणामोंका कारण शारीरिक कमजोरी नहीं ; बल्कि उसके प्रति रोगीकी भावना है । इसीलिये इस विज्ञानका विद्यार्थी केवल शारीरिक कारणोंका कोई महत्व नहीं समझता ; बल्कि गलत भावनाओंसे ही सरोकार रखता है । और इसलिये बचपनमें हो आत्म-ग्लानिके विरुद्ध भावनाओंका संचार करना चाहता है ।

बहुतसे लोग बड़े उतावले होते हैं । वे कठिनाइयोंको जीतनेमें धैर्य नहीं रखते । जो लोग हमेशा चञ्चल दिखलाई पड़ते हैं और जिनके आवेश बड़े तीव्र होते हैं, उन्हें निश्चय ही आत्मग्लानि-ग्रस्त समझना चाहिये । जिसको

यह विश्वास है कि वह अपनी कठिनाईको जीत लेगा, वह धैर्य नहीं छोड़ता। लड़ाकू, बे-अदब और उद्दण्ड लड़के भी आत्मग्लानिका परिचय देते हैं। उनकी कठिनाइयोंको जानकर उन्हें दूरकर देना ही उनकी दवा है। उनकी प्रकृतिके दोषोंको आप दण्ड देकर ठीक नहीं कर सकते। बच्चोंकी प्रकृतिका पता कई प्रकारसे चलता है ; जैसे—उनकी असाधारणा रुचिसे, दूसरोंसे आगे बढ़नेके लिये वे जो-जो उपाय करते हैं उनसे, और अपने आदर्शकी ओर बढ़नेकी भावना से। कुछ लोग अपने कार्यों और व्यवहारमें विश्वास नहीं रखते, दूसरों-से बचते रहते हैं, जहाँ वे निश्चिन्त रहते हैं। स्कूलमें, समाजमें, जीवनमें, विवाह सम्बन्धमें, उनके सभी व्यवहारोंमें यही बात रहती है। वे अपने ही छोटे दायरेमें अपनी महत्ता बढ़ानेके लिये बहुत कुछ कर लेना चाहते हैं। ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत है। वे नहीं समझते कि कुछ कर सकनेके लिये सब परिस्थितियोंके मुकाबिले के लिये उनका तैयार रहना आवश्यक है। परिस्थितियों से बचकर वे अपनी व्यक्तिगत बुद्धिमें ही अपने कार्योंका समर्थन कर सकते हैं; किन्तु इससे काम नहीं चल सकता। व्यावहारिक बुद्धि और सामाजिक संघर्षके प्रोत्साहनकी जीवनको बड़ी आवश्यकता है।

दार्शनिकके लिए अपने विचारोंको समन्वित करनेके लिए एकान्तका सेवन और समाजसे बचनेकी अधिक आवश्यकता पड़ती है ; परन्तु इसके बाद उसका समाजके सम्पर्कमें आना उसके विकासके लिए जरूरी है। और इसीमें उसका उपयोग है। ऐसे आदमीको देखनेपर हमें उसकी एकान्त और संपर्क-सम्बन्धी दोनो आवश्यकताओंका ध्यान रखना चाहिए। यह भी देखते रहना चाहिए कि उसकी प्रवृत्ति उपयोगी जीवनकी ओर जा रही है, या इसके विरुद्ध।

आत्मग्लानि स्वयं कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती। उसकी मात्रा और रूप पर ही सब कुछ निर्भर करता है; जैसे—कुछ बच्चे हमेशा अपनेसे कमजोर

बच्चोंके साथ खेला करते हैं, जिनपर वे अपना प्रभुत्व जमा सकें। वे अपनेसे मज़बूत लड़कोंसे बचते रहते हैं। उनमें आत्मग्लानि बहुत अधिक मात्रामें होती है। समस्त सामाजिक व्यवहारकी कुञ्जी इसी तत्वमें है कि लोग ऐसी ही परिस्थितियोंको प्राप्त करनेकी कोशिशमें रहते हैं, जिनमें उनको महत्त्व प्राप्त हो।

जब आत्मग्लानिकी मात्रा बढ़ जाती है, तो यह व्यक्तिके पूरे जीवन पर व्याप्त हो जाती है और एक व्याधिका रूप प्राप्त कर लेती हैं, जिसका प्रकोप भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें दिखलाई पड़ जाता है; जैसे—कोई व्यक्ति जब अपने निजी काममें रहता है, उस समय उसमें आत्मग्लानिका पता नहीं चल सकता; क्योंकि अपने काममें उसे विश्वास रहता है; किन्तु समाजमें या विवाह सम्बन्धमें उसे अपने ऊपर विश्वास न हो—यह भी संभव है। यहाँ पर उसकी मनःस्थितिका पता चल जाता है।

किसी नई या कठिन परिस्थितिमें हम स्वभावके दोषोंको अधिक मात्रामें देख पाते हैं। वास्तवमें कठिनाई नई परिस्थितिमें ही होती है; इसलिये नई परिस्थितियोंमें ही मनुष्यके वास्तविक स्वभावका पता चलता है और यह भी मालूम हो जाता है कि समाज-भावना उसमें कितनी मात्रामें है।

बच्चोंकी समाज भावना स्कूलमें उसी तरह देखी जा सकती है, जैसे साधारण सामाजिक जीवनमें। हमें देखना चाहिये कि वह साथियोंसे मेल-जोल रखता है, या उनसे बचता है; यदि हम बहुत चंचल, धूर्त बच्चोंको देखें, तो इसका मानसिक कारण ढूंढ़ना चाहिये। अगर कोई बच्चा आगे बढ़ते हुए हिचकता है और अवस्था-विशेषमें ही कदम बढ़ाता है, तो उसके भावी सामाजिक जीवन और वैवाहिक जीवनमें भी इसी मनःस्थितिकी आशा करनी चाहिये।

बहुतसे लोग अपने सम्बन्धमें डींगें मारते हुए 'लेकिन' 'किन्तु' 'परन्तु' आदिका बहुत प्रयोग करते हैं। उनके यह कथन, गहरी आत्मग्लानिके सूचक हैं। इस बातसे कुछ मानसिक भावों पर प्रकाश पड़ता है ; जैसे—सन्देह, इत्यादि। सन्देह करने वाले आमतौरसे सन्देहमें ही रह जाते हैं, और कुछ कर नहीं पाते ; किन्तु यदि कोई कहे कि 'मैं नहीं करूंगा, यह मुझसे न होगा' तो समझना चाहिये कि वह अवश्य ही अपनी बात पूरी करेगा।

अक्सर लोगोंमें परस्पर विरुद्ध भावनाएँ दिखलाई देती हैं। यह विरोध आत्मग्लानिका चिह्न हो सकता है; लेकिन ऐसे व्यक्तियोंकी हरकतोंकी भी परीक्षा कर लेनी आवश्यक है ; जैसे—उनका लोगोंके साथ मिलने-जुलनेका तरीका सन्तोषप्रद न हो, जब दूसरोंके पास आते समय उनकी शारीरिक चेष्टाओंसे हिचक जान पड़े, या उनके कदम रुक-रुक कर पड़ते हों। जीवनकी अन्य स्थितियोंमें भी उनकी इस हिचकका परिचय प्रायः मिलेगा। बहुतसे लोग एक कदम आगे बढ़ाते हैं, एक कदम पीछे। यह तो बहुत ही प्रबल आत्म-ग्लानिका चिह्न है।

ऐसे व्यक्तियोंको हिचक छोड़नेकी शिक्षा देना ही हमारा कर्त्तव्य है। उनको हताश कभी न करना चाहिये। उनकी ठीक चिकित्सा यह है कि उनको प्रोत्साहन दिया जाय। उनको यह समझाया जाय कि वे कठिनाइयोंका मुका-बिला कर सकते हैं और जीवनकी समस्याओंको हल कर सकते हैं। आत्म-विश्वास पैदा करनेका यही एक तरीका है, और यही आत्मग्लानिकी एकमात्र चिकित्सा है।

———

४

आत्मश्लाघा

आत्मग्लानिका ही दूसरा पक्ष आत्मश्लाघा है। जैसा कि पहिले दिखलाया जा चुका है, मनुष्य अपनी कमजोरियोंके कारण अपना एक ऐसा आदर्श निश्चित कर लेता है, जिससे वह उन कमजोरियोंका परिमार्जन कर सके। यह भी दिखलाया जा चुका है कि यह आदर्श शक्तिमत्ताका ही आदर्श होता है। इसी बातको यों कहा जा सकता है कि मनुष्य आत्मग्लानिकी ओरसे आत्मश्लाघाकी ओर बढ़नेका प्रयत्न करता है। और उसके प्रत्येक कार्यमें यह प्रयत्न दिखाई देता है। इस तरह जिस कार्यको हम आत्मग्लानिका कारण कह सकते हैं, उसीको आत्मश्लाघाका कारण भी कह सकते हैं; क्योंकि ये दोनों तो मूलत; पृथक् हो नहीं सकतीं। फिर भी इनमें व्यावहारिक भेद हो जाता है। वह इस प्रकार कि जब व्यक्तिका ध्यान इस बात पर अधिक रहता है कि वह दूसरोंकी अपेक्षा हीन है और इसी भावनाके विरुद्ध वह लड़ाई करता है; तब उसे आत्मग्लानिका शिकार कहना चाहिए। और जब व्यक्तिका ध्यान दूसरोंको

जीतनेमें ही लगा रहता है, चाहे वह उनसे स्पष्ट रूपसे अपनेको हीन न समझता हो अथवा वास्तवमें उनसे हीन हो हो नहीं, फिर भी अपने प्रभुत्वका विस्तार उनपर करना चाहता हो, तो उसे आत्मश्लाघा-ग्रस्त समझना चाहिए। अथवा यों कहिए कि जहाँपर रोगका कारण अपनी हीनता हो, वह तो आत्मग्लानि है और जहांपर रोगकी वजह आदर्शकी ऊँचाई हो वह आत्मश्लाघा है। आत्मग्लानिमें व्यक्ति अपनेको हीन समझ इससे विपरीत समझे जानेकी कोशिश करता है ओर आत्मश्लाघामें वह अपनेको महान् समझता है और इसे सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है, यद्यपि दोनोंका मिला-जुला रहना स्वाभाविक ही है।

इन दोनों भावनाओंकी विशेषता यह है कि यह व्यक्तिको समाजकी ओरसे हटाकर बिलकुल ही आत्मरत कर देती हैं। उसे दूसरोंके हितकी कोई परवाह नहीं रहती। वह अपने ही हितोंमें व्यस्त रहता है। और यह स्पष्ट ही है कि मनुष्यके लिए इतनी स्वार्थ-परता अपने ही उद्देश्योंके लिए घातक होती है। बिना थोड़ा-बहुत दूसरोंके हितका ख्याल किये हुए अपना हित हो ही नहीं सकता; इसलिए जीवनकी सामाजिक समस्याओंको हल करनेके लिये जो सीधा रास्ता है उससे ऐसा व्यक्ति बहुत दूर रहता है और अपनी असफलताके परिमार्जनके लिये अनुपयोगी उपायोंका आश्रय लेता है। यद्यपि इससे वस्तुतः उसकी न्यूनताओंका परिमार्जन नहीं होता तब भी वह कल्पनामें महत्त्व प्राप्त कर लेता है और यह बात छिपी नहीं है कि मनुष्य-जाति बहुधा कल्पनासे ही संतुष्ट हो जाती है। इसका कारण प्रायः यही होता है कि मनुष्य उपयोगी उपायोंसे अन्य व्यक्तियोंका मुक़ाबिला करनेमें अपनेको असमर्थ समझता है; क्योंकि वह समाजके अनुकूल नहीं होता अथवा सरलतासे अपनी महत्त्वाकांक्षा तृप्त करना चाहता है और जीवनकी स्वाभाविक कठिनाइयोंका मुक़ाबला नहीं करना चाहता।

काल्पनिक परिमार्जनके सम्बन्धमें यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि प्रायः व्यक्ति अपनी कमजोरियोंको ही अपने महत्वका साधन बना लेता है। वह उनका नाजायज़ फ़ायदा उठाता है। और चूंकि किसी वास्तविक समस्याको हल करनेका अन्तिम उद्देश्य प्रभुत्व ही है इसलिए वह दूसरोंपर किसी प्रकारसे भी प्रभुत्व प्राप्त कर लेनेको, उस समस्याको हल करनेकी अशक्तिका परिमार्जन समझता है। दूसरे लोग अपने हितोंका ख्याल छोड़कर उसीमें व्यस्त हैं, एकाग्रचित्त होकर उसीकी सेवा-सुश्रूषा कर रहे हैं; उसीको सम्भालनेमें परेशान हैं। इसीको वह उनपर अपना प्रभुत्व समझता है। और सभ्यतामें अशक्तों, दुःखियों और रोगियोंके प्रति इस प्रकारका दयापूर्ण व्यवहार होता ही है। करुणा सभ्यताका प्राण है। यही कारण है कि सभ्यतामें अशक्ति शक्तिका स्थान ग्रहण कर लेती है। दुःखका प्रकाशन देखते ही समाजकी करुणा जाग उठती है; पर इसी कारण साधारणतः लोग दुःखका प्रकाश करना उचित नहीं समझते। और तबतक करुणाके पात्र नहीं बनना चाहते, जबतक उनकी अवस्था इतनी तीव्र न हो जाय कि कर्तव्यका बन्धन तोड़कर स्वयं ही फूट पड़े। और अपनी करुणा अवस्थाको बढ़ाकर प्रकाशित करना, उसको स्थायी बना देना और जहाँ आवश्यकता नहीं है वहाँ भी उसकी कल्पना कर लेना—खासकर जहाँ समाज विरुद्ध है—और इस तरह उसीसे समाजको आकृष्ट करना कितना त्याज्य है, यह बतलानेकी ज़रूरत नहीं है। वह सिवा सभ्यताके दुरुपयोगके और क्या कहा जा सकता है? फिर भी उपर्युक्त व्याधियोंसे ग्रस्त व्यक्ति अबोध-पूर्वक यही करता है; क्योंकि एकबार उपयोगी मार्गका त्याग कर देनेपर स्वभावतः उसके सामने यही मार्ग उपस्थित हो जाता है और सबसे सरल प्रतीत होता है। जब उसकी कमज़ोरी छिप नहीं सकती और वह देखता है कि उसकी उस कमज़ोरीके कारण समाज अपनी सारी कठोरता छोड़कर उसके प्रति कोम-

लता ग्रहण कर लेता है, तो उसे बड़ी सान्त्वना मिलती है। उसकी सारी परेशानी दूर हो जाती है और वह अवस्था स्वभावतः स्थायी हो जाती है क्योंकि यद्यपि यह उपाय स्वयं दुःखकर है ; फिर भी इससे दूसरे बड़े दुःखकी निवृत्ति हो जाती है। समस्त जीवनमें व्याप्त परेशानीका अन्त हो जाता है।

उदाहरण लीजिए। प्रायः लोग अनिद्रा रोगसे पीड़ित हो जाते हैं। दूसरे दिन अपना कार्य करनेके योग्य नहीं रह जाते। इस बातसे लोग उनसे काम करनेकी आशा न करेंगे, यह भी वे जानते हैं। उनके लिए एक बड़ा अच्छा बहाना मिल जाता है कि 'अगर मैं सो सकता, तो क्या न कर लेता?' इस प्रकार वे अपना प्रभुत्व स्थापित करते हैं।

किसी आशंका और उदासीसे पीड़ित लोगोंमें भी ये ही बातें दिखाई देती हैं। इसके बलपर वे दूसरोंपर बड़ा अत्याचार करते हैं। वे जहां जायँ किसी-न-किसीको उनके साथ जाना ही चाहिए। उनके साथियोंको अपना जीवन उनकी आज्ञाओंके अनुसार ही बनाना पड़ता है।

किन्तु आत्मश्लाघाकी सिद्धिके लिए दूसरोंकी करुणा जगाना ही एक उपाय नहीं है। अपनी कमज़ोरियोंसे अन्य फ़ायदे भी उठाये जाते हैं। एक युवती लड़की थी, जिसकी बड़ी बहनसे लोग बहुत स्नेह करते थे। इस बहनसे अपनी-हीनताका अनुभव करते रहनेके कारण वह आत्मग्लानिका शिकार हो रही थी, उसने संगीतका अध्ययन आरम्भ किया। यहां भी उसे ऐसा जान पड़ा कि उसके सामने कोई बाधा उपस्थित है, जब वह बीस वर्षकी हुई, तब उसकी बहनने अपनी शादी कर ली। वह भी अपनी बहनका मुकाबला करनेके लिए शादी खोजने लगी। इस प्रकार क्रमशः वह अनुपयोगी जीवनकी ओर चली गई। उसको यह विचार सताने लगा कि वह बहुत ही खराब लड़की है। इतनी खराब है कि दूसरोंके लिए अशुभ हो गई है और दूसरोंको नरकमें भेज

काल्पनिक परिमार्जनके सम्बन्धमें यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि प्रायः व्यक्ति अपनी कमजोरियोंको ही अपने महत्वका साधन बना लेता है। वह उनका नाजायज़ फ़ायदा उठाता है। और चूंकि किसी वास्तविक समस्याको हल करनेका अन्तिम उद्देश्य प्रभुत्व ही है इसलिए वह दूसरोंपर किसी प्रकारसे भी प्रभुत्व प्राप्त कर लेनेको, उस समस्याको हल करनेकी अशक्तिका परिमार्जन समझता है। दूसरे लोग अपने हितोंका ख्याल छोड़कर उसीमें व्यस्त हैं, एकाग्रचित्त होकर उसीकी सेवा-सुश्रूषा कर रहे हैं; उसीको सम्भालनेमें परेशान हैं। इसीको वह उनपर अपना प्रभुत्व समझता है। और सभ्यतामें अशक्तों, दुःखियों और रोगियोंके प्रति इस प्रकारका दयापूर्ण व्यवहार होता ही है। करुणा सभ्यताका प्राण है। यही कारण है कि सभ्यतामें अशक्ति शक्तिका स्थान ग्रहण कर लेती है। दुःखका प्रकाशन देखते ही समाजकी करुणा जाग उठती है; पर इसी कारण साधारणतः लोग दुःखका प्रकाश करना उचित नहीं समझते। और तबतक करुणाके पात्र नहीं बनना चाहते, जबतक उनकी अवस्था इतनी तीव्र न हो जाय कि कर्तव्यका बन्धन तोड़कर स्वयं ही फूट पड़े। और अपनी करुणा अवस्थाको बढ़ाकर प्रकाशित करना, उसको स्थायी बना देना और जहाँ आवश्यकता नहीं है वहाँ भी उसकी कल्पना कर लेना—खासकर जहाँ समाज विरुद्ध है—और इस तरह उसीसे समाजको आकृष्ट करना कितना त्याज्य है, यह बतलानेकी ज़रूरत नहीं है। वह सिवा सभ्यताके दुरुपयोगके और क्या कहा जा सकता है? फिर भी उपर्युक्त व्याधियोंसे ग्रस्त व्यक्ति अबोध-पूर्वक यही करता है; क्योंकि एकबार उपयोगी मार्गका त्याग कर देनेपर स्वभावतः उसके सामने यही मार्ग उपस्थित हो जाता है और सबसे सरल प्रतीत होता है। जब उसकी कमज़ोरी छिप नहीं सकती और वह देखता है कि उसकी उस कमज़ोरीके कारण समाज अपनी सारी कठोरता छोड़कर उसके प्रति कोम-

लता ग्रहण कर लेता है, तो उसे बड़ी सान्त्वना मिलती है। उसकी सारी परेशानी दूर हो जाती है और वह अवस्था स्वभावतः स्थायी हो जाती है क्योंकि यद्यपि यह उपाय स्वयं दुःखकर है ; फिर भी इससे दूसरे बड़े दुःखकी निवृत्ति हो जाती है। समस्त जीवनमें व्याप्त परेशानीका अन्त हो जाता है।

उदाहरण लीजिए। प्रायः लोग अनिद्रा रोगसे पीड़ित हो जाते हैं। दूसरे दिन अपना कार्य करनेके योग्य नहीं रह जाते। इस बातसे लोग उनसे काम करनेकी आशा न करेंगे, यह भी वे जानते हैं। उनके लिए एक बड़ा अच्छा बहाना मिल जाता है कि 'अगर मैं सो सकता, तो क्या न कर लेता?' इस प्रकार वे अपना प्रभुत्व स्थापित करते हैं।

किसी आशंका और उदासीसे पीड़ित लोगोंमें भी ये ही बातें दिखाई देती हैं। इसके बलपर वे दूसरोंपर बड़ा अत्याचार करते हैं। वे जहां जायँ किसी-न-किसीको उनके साथ जाना ही चाहिए। उनके साथियोंको अपना जीवन उनकी आज्ञाओंके अनुसार ही बनाना पड़ता है।

किन्तु आत्मश्लाघाकी सिद्धिके लिए दूसरोंकी करुणा जगाना ही एक उपाय नहीं है। अपनी कमज़ोरियोंसे अन्य फ़ायदे भी उठाये जाते हैं। एक युवती लड़की थी, जिसकी बड़ी बहनसे लोग बहुत स्नेह करते थे। इस बहनसे अपनी-हीनताका अनुभव करते रहनेके कारण वह आत्मग्लानिका शिकार हो रही थी, उसने संगीतका अध्ययन आरम्भ किया। यहां भी उसे ऐसा जान पड़ा कि उसके सामने कोई बाधा उपस्थित है, जब वह बीस वर्षकी हुई, तब उसकी बहनने अपनी शादी कर ली। वह भी अपनी बहनका मुकाबला करनेके लिए शादी खोजने लगी। इस प्रकार क्रमशः वह अनुपयोगी जीवनकी ओर चली गई। उसको यह विचार सताने लगा कि वह बहुत ही खराब लड़की है। इतनी खराब है कि दूसरोंके लिए अशुभ हो गई है और दूसरोंको नरकमें भेज

सकती है। यहाँपर प्रत्यक्ष देखा जा सकता है कि अशक्तिको शक्तिका साधन किस प्रकार बनाया जा सकता है। इस लड़कीने अपनी हीनतामेंसे ही महत्त्वका साधन निकाल लिया। अपनी बहनकी शक्तिसे बड़ी शक्ति उसने प्राप्त कर ली थी। अपनी इस अशक्तिका रोना रोते रहना भी वास्तवमें अपनी शक्तिका परिचय देना था; क्योंकि वह जितनी ही अधिक इसकी निन्दा करती थी, उतना ही विश्वास उसकी बातपर हो सकता था; अगर वह हँसकर अपनी शक्तिका दावा करती तो उसे उसमें सन्देह होने लगता। इस प्रकार उसका रोना ठीक उसकी महत्ताका साधन था। बहुतसे धनी लोगोंके द्वारा इसी प्रकार अपने धनी होनेकी क़िस्मतका रोना रोया गया है। इन बातोंमें यह भी देखा जा सकता है, कि आत्मग्लानिके अन्दर उसके प्रतिकार रूपसे आत्मश्लाघाका भाव किस प्रकार छिपा रह सकता है। चाहे ऊपरसे उसका पता न चले; इस लड़कीमें यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है, कि वह इतने हीमें सन्तुष्ट नहीं रही, कि वह लोगोंको नरक भेजनेकी शक्ति रखती है। कभी-कभी उसकी यह भी भावना हो जाती थी, कि लोगोंको इस विपत्तिसे बचाना भी उसका कर्तव्य है।

इस लड़कीकी बड़ी बहन, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, छोटी बहन की पैदाइशके बाद चिड़चिड़ी और उदास रहने लगी। जिसके कारण उन लोगोंका आकर्षण उसकी ओरसे हट गया। दूसरी ओर चूंकि छोटी बहन अभी बच्ची थी; इसलिए लाड़-प्यारकी अधिक अधिकारी थी और प्यार पानेके कारण उसकी प्रकृति बहुत कोमल और मधुर हो गई; किन्तु पहले भी बतलाया जा चुका है, कि लाड़ले बच्चे प्रतिकूल परिस्थितिमें अपनी वास्तविक अशक्तता-का अनुभव करते हैं। वे आत्मश्लाघाके व्यसनी हो जाते हैं। यह बताया जा चुका है, कि उस लड़कीने संगीतकी शिक्षाको त्याग दिया। यह उसकी सन्दे-

हात्मक मनोवृत्तिका प्रमाण था। इसी समय उसकी समाजसे रुचि जाती रही। वह बाहर नहीं जाना चाहती थी। उदास रहने लगी; क्योंकि वह अपनी बड़ी बहनसे अपनेको पराभूत पाती थी। उसकी संदिग्ध वृत्तिने उसे और भी कमज़ोर बना दिया और उसका चरित्र अवनत होने लगा।

इसके बाद वह अपनी जीविकाके सम्बन्धमें भी सन्दिग्ध वृत्तिका परिचय देने लगी। और किसी कामको पूरा नहीं किया। विवाह-सम्बन्धमें भी अपनी बहनसे स्पर्द्धा होते हुए भी उसका यही हाल रहा। जब वह तीस वर्षकी हुई उसने एक क्षय रोग-ग्रस्त पुरुषको ढूंढ़ निकाला। यह निश्चय था, कि उसके माता-पिता इस सम्बन्धकी स्वीकृति न देंगे और उसे स्वयं अपने ऊपर इस कार्यसे विमुख होनेकी ज़िम्मेदारी न लेनी पड़ेगी। एक वर्ष बाद उसने अपनेसे पैंतीस वर्षसे अधिक उम्रके एक पुरुषसे शादी कर ली। निश्चय ही यह विवाह था। बहुधा आत्मग्लानि विवाह-सम्बन्धके लिए अपने बहुत बड़ी अवस्थावाले, या ऐसे व्यक्तिके चुनावमें व्यक्त होती है, जिससे विवाह किया ही न जा सकता हो; जैसे कोई विवाहित पुरुष या स्त्री। जहाँ ऐसी बाधाएँ लाई जाती हैं वहाँ अवश्य ही कायरता छिपी रहती है। चूंकि इस लड़कीकी महत्ता विवाह सम्बन्धमें सिद्ध नहीं होती, इसलिए उसने आत्मश्लाघाका एक दूसरा उपाय खोज निकाला। वह इस बातका आग्रह करने लगी, कि संसारमें कर्तव्य ही सबसे बड़ी चीज़ है। वह हर वक्त अपनेको धो-धोकर साफ़ करने लगी। अगर कोई चीज़ उससे छू जाती, तो उसे फिरसे हाथ धोने पड़ते। इस प्रकार वह समाजसे बिलकुल विच्छिन्न हो गई। वास्तवमें उसके हाथ बहुत ही गन्दे रहते थे; क्योंकि बार-बार धोनेसे चमड़ा रूखा हो गया था और उसमें मैल जम जाती थी।

यद्यपि यह सब आत्मग्लानिका ही सूचक मालूम होता है; किन्तु इस कार्यके द्वारा वह अपनेको संसारमें सबसे अधिक शुद्ध व्यक्ति समझती थी।

और दूसरोंको इसलिए बराबर दोष दिया करती थी, कि उनको यह झक नहीं है। इस तरह उसने काल्पनिक महत्ता प्राप्त कर ली थी। यहाँ पर भी हम आत्मग्लानिमें आत्मश्लाघाका भाव पाते हैं।

एक पन्द्रह वर्षीय लड़केको यूरोपीय महासमरके पहले यह भ्रम हो गया, कि आस्ट्रियाके सम्राट्की मृत्यु हो गई। उसका दावा था, कि सम्राट्ने स्वप्नमें उससे कहा, कि आष्ट्रियाकी फ़ौजको शत्रुके मुक़ाबलेमें ले जाय; अर्थात्—उसका सेनापति हो जाय।

उसको अखबारोंसे यह दिखलाया गया कि सम्राट् ज़िन्दा है किन्तु उसने अपना आग्रह न छोड़ा। इस लड़केका क़द बहुत ठिंगना था। वह अपने एक अध्यापकसे विशेष प्रेम रखता था और उसके समान होना चाहता था; किन्तु अपने कुटुम्बकी साम्पत्तिक असमर्थताके कारण उसे एक होटलमें काम करना पड़ता था, जहाँपर लोग उसके क़दके कारण उसे बहुत चिढ़ाते थे। वह इसे सहन न कर सकता था और अपने शिक्षकके आदर्शकी ओर भी न जासकता, जिससे उसकी आत्मग्लानिका परिमार्जन होता; इसलिए उसने अनुपयोगी मार्गका अनुसरण किया। और स्वप्न तथा कल्पनामें महत्ता प्राप्त की।

निद्रामें उसके शरीरका आसन इस बातको सूचित करता था कि यहाँ भी वह अपनी महत्ता सिद्ध करता था। उसके आदर्श और कमज़ोरीका पता भी इसी बातसे चला था। उन दिनों इस विज्ञानमें इस बातका अन्वेषण हो रहा था कि निद्राकालमें हम जिन तरह-तरहकी स्थितियोंमें सोते हैं, उनसे हमारी महत्वांकांक्षा या आत्मग्लानिकी कहाँतक सूचना मिलती है। कुछ लोग धनुषाकार होकर अपने सिरको ढँककर सोते हैं। यह आत्मग्लानिका सूचक है। ऐसे लोगोंसे साहसकी आशा न करनी चाहिए। जो लोग तनकर सोते हैं उनके

जीवनमें कमज़ोरी या ढीलापन नहीं पाया। जो लोग पेटके बल सोते हैं वे ज़िद्दी और लड़ाकू होते हैं।

उस लड़केकी परीक्षा करनेपर देखा गया कि वह अपनी बाहोंको छातीपर बाँधकर सोता था। हम सब जानते हैं कि तस्वीरोंमें नेपोलियन इसी स्थितिमें चित्रित किया जाता है। दूसरे दिन उससे पूछा गया कि 'क्या इस स्थितिमें तुम्हें कोई व्यक्ति याद आता है'—तो उसने जवाब दिया 'हां मेरे अध्यापक।' बादको मालूम हुआ कि वे अध्यापक नेपोलियनसे मिलते-जुलते थे। इसके अतिरिक्त वही इस लड़केके आदर्श थे।

पिछले अध्यायमें आत्मग्लानिकी बहुत-सी बातोंका कारण बताया जा चुका है। प्रायः उनमें आत्मश्लाघाके अंश भी मिले-जुले रहते हैं। जैसे जो लोग हमेशा शर्तके साथ अपने बड़प्पनकी गाथा गाते हैं और कहते हैं 'अगर मैं सुस्त न होता, तो ऐसा हो जाता' इत्यादि, उनको देखनेसे मालूम होता है कि आगे नहीं बढ़ रहे हैं। क्योंकि वे कर्मशील नहीं दिखाई देते और न किसी चीज़में उनकी रुचि दिखाई पड़ती है। फिर भी उनके अन्दर महत्त्वाकांक्षा विद्यमान है और वही इस रूपमें व्यक्त होती है। वे आगे बढ़ रहे हैं—शर्तके साथ। वे अपनी शक्तिको कम नहीं समझना चाहते और इसलिए इस कल्पनाका आश्रय लेते हैं। साहसहीन व्यक्तियोंमें यह बात विशेषतासे देखी जाती है। उनमें अपनी शक्तिमें विश्वास नहीं होता ; इसलिए वे कठिनाइयोंको बचाकर निकल जाना चाहते हैं। इस तरह वास्तवमें वे जितने शक्तिमान् और बुद्धिमान् हैं उससे अधिक शक्तिकी अपने अन्दर कल्पना कर सकते हैं।

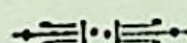
बहुतसे बच्चे आत्मश्लाघाके भावसे ही प्रेरित होकर चोरी करने लग जाते हैं। इस प्रकार दूसरोंको धोखा देनेमें वे अपनेको उनसे प्रबल समझते हैं और आसानीसे उनसे अमीर हो जाते हैं। यही बात उन अपराधियों की है

जो अपनेको वीरताका अवतार मानते हैं। उनका यह दोष उनकी व्यक्तिगत बुद्धिका परिणाम है। साहसहीन होनेके कारण वे समस्याओंको बचाकर निकल जानेका प्रबन्ध कर लेते हैं। इस तरह उनका दोष स्वाभाविक न होकर आत्म-श्लाघाका परिणाम है।

जिद्दी, उद्दण्ड और लड़ाकू बच्चे आत्मश्लाघाके ही अधीन होते हैं। वे अपने आपको अपनी योग्यतासे अधिक बड़ा दिखाना चाहते हैं। हम सभी जानते हैं कि अक्सर बच्चे अपने ज़िद्दीपनसे दूसरोंपर प्रभुत्व पानेकी कोशिश करते हैं। उनको बीच-बीचमें ज़िद्दीपनके दौरे आते हैं। वे इतने उतावले इसीलिए होते हैं कि वे अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिए अपने अन्दर काफी शक्ति नहीं पाते। लड़ने-झगड़नेवाले बच्चे इसी कमज़ोरीको सरल मार्गसे जीतनेके लिए प्रयत्न करते रहते हैं। वे बच्चे जीवनकी अन्योन्याश्रयिताको नहीं समझते। इसके लिए उनको डाँटना-फटकारना व्यर्थ है; अगर उनसे सवाल किया जाय तो वे यही आग्रह करेंगे कि वे अपनेको किसीसे हीन नहीं; बल्कि उन्नत समझते हैं। उनको स्नेहके साथ धीरे-धीरे उनके दृष्टिकोणका तत्त्व समझना चाहिए।

जो लोग बड़े दिखावटी शान-बानके और शेखीवाले होते हैं वे वास्तवमें अपनी हीनताका अनुभव करते हैं और जीवनके उपयोगी क्षेत्रमें दूसरोंका मुक़ाबला करनेका साहस नहीं रखते। इसीलिए वे अनुपयोगी जीवनकी ओर चले जाते हैं। वे समाजके अनुकूल नहीं होते और जीवनकी सामाजिक समस्याओंको हल करनेका तरीका नहीं जानते; इसीलिए उनसे अध्यापकों और माता-पितासे हमेशा कशमकश रहती है। ऐसी अवस्थामें वास्तविक स्थितिको समझना और बच्चोंको समझाना आवश्यक है।

५



जीवन-प्रणाली

जीवन-प्रणाली दो तत्वोंके संघर्षका परिणाम है। एक आदर्श-प्राप्तिका प्रयत्न और दूसरी बचपनकी कठिनाइयाँ। ये दोनों तत्व प्रत्येक व्यक्तिके जीवनमें समान होते हैं। बचपनमें ही इन दोनों बातोंके प्रभावसे जो मार्ग ग्रहण कर लिया जाता है; वह कभी नहीं बदलता और इसीके अनुसार सारा जीवन होता है। यह जीवन-प्रणाली प्रत्येक व्यक्तिकी अलग-अलग होती है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिकी परिस्थितिमें कुछ न कुछ दूसरोंसे भिन्नता अवश्य होती है; फिर भी व्यवहारके लिये इसके कई मोटे-मोटे भेद किये जा सकते हैं।

जीवन-प्रणालीका पता लगाना बड़ा कठिन है। अनेक परिस्थितियोंमें उसका पता नहीं चलता। परिस्थितिसे उसका क्या सम्बन्ध है, यह तभी जाना जा सकता है; जब अनेक विभिन्न परिस्थितियोंमें उसकी तुलना की जाय।

व्यक्तिमें जन्मगत जो शारीरिक दोष होते हैं, उनके कारण बचपनमें ही उसे अपनी हीनताका अनुभव होने लगता है। चूंकि वह इस अवस्थाको बहुत

दिनों तक नहीं सह सकता, इसलिये उसे कर्म और प्रयत्नकी प्रेरणा होती है। इसीके परिणाम स्वरूप उसका एक आदर्श बन जाता है। इस आदर्शकी ओर जो निरन्तर गति होती है, उसीको जीवन-प्रणाली कहते हैं।

हम मोटे तौरसे जीवनकी कठिनाइयों और समस्याओंको जानते हैं। इसलिये बहुधा किसी व्यक्ति विशेषसे कुछ बातें करके और कुछ प्रश्नोंका उत्तर निकलवा कर ही उसके भावी जीवनके सम्बन्धमें बहुत कुछ बतलाया जा सकता है। यह इसलिये सम्भव है कि उसकी एक जीवन-प्रणाली होती है। किन्तु यह बात किसी अभ्यस्त मनोवैज्ञानिकके लिये ही सम्भव है। जन-साधारणके लिये व्यक्तिको अनेक परिस्थितियोंमें देखना आवश्यक है।

भिन्न-भिन्न प्रकारकी जीवन-प्रणालियोंको समझनेके लिये एक सहज उपाय यह है कि एक आदर्श जीवन-प्रणाली मान ली जाय, जिससे अन्य जीवन-प्रणालियोंका अन्तर नापा जा सके। इस आदर्श जीवन-प्रणालीसे अन्य किसी जीवन-प्रणालीमें जो विभिन्नता होगी, उस विभिन्नताके अनुसार ही उसका स्वरूप निर्देश होगा। हम सामाजके अनुकूल जीवनको ही आदर्श मानते हैं। आदर्श जीवन उसी व्यक्तिका है, जो समाजमें रहता है और जिसके रहन-सहन का तरीक़ा ऐसा है कि उसके कामसे समाजका कुछ न कुछ फ़ायदा अवश्य होता है। यह उसकी इच्छासे हो या अनिच्छा से, मानसिक दृष्टिसे उसमें इतनी शक्ति और साहस होना चाहिये, जिससे वह कठिनाइयों और समस्याओंका, जब वे सामने आवें, सामना कर सके। जब कोई व्यक्ति न तो समाजके अनुकूल हो और न वह अपने जीवनके नित्यके कर्तव्योंका सामना कर सके, तो उसे मानसिक दृष्टिसे दोषयुक्त समझना चाहिये।

एक उदाहरण लीजिये— एक तीस वर्षका पुरुष हमेशा अपनी समस्याओं से भागता रहता था। उसका एक मित्र था, लेकिन वह सदैव उस पर सन्देह

किया करता था। इस कारण यह मित्रता कभी सफल नहीं हुई। ऐसी अवस्थामें मित्रताका विकास नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरा साथी भी इस सम्बन्धमें जो खींचातानी है उसका अनुभव करता है। सामाजिक रुचि और अनुकूलताकी कमीके कारण इस आदमीका कोई सच्चा मित्र नहीं था। यद्यपि बहुतसे आदमियोंसे उससे बात-चीत थी, पर वह समाजको पसन्द ही नहीं करता था और दूसरोंके सामने सदा चुप रहा करता था। इसका कारण वह यह बतलाता था कि दूसरोंके सामने उसके मनमें विचार आते ही नहीं; इसलिये वह कुछ बोल नहीं सकता था। वह बड़ा संकोची था। बीच-बीचमें उसके चेहरे पर लज्जाकी लालिमा व्याप्त हो जाती थी। उसको यह सुरत साथवालोंको कुछ अच्छी न लगती थी; इस बातसे उसका संकोच तथा बोलनेकी अनिच्छा और भी बढ़ जाती है, जब वह संकोच छोड़ देता था, तब बहुत अच्छी तरह बोल सकता था। इस प्रवृत्तिका परिणाम यह होता था कि वह दूसरे व्यक्तियोंका ध्यान अपनी ओर आकर्षित न कर सकता था। यही उसकी जीवन-प्रणाली थी। उसको प्रोत्साहन देनेकी आवश्यकता थी।

मित्रता और सामाजिक जीवनके बाद जीवन-वृत्तिका प्रश्न आता है। यहां भी असफलताके डरसे वह दिन-रात अध्ययन किया करता था और अति परिश्रमके कारण अपनेको कामके अयोग्य बना लेता था। यहां पर हम देख सकते हैं कि आत्मग्लानि और असफलता परस्पर सहायक होते हैं। असमर्थताकी भावनासे ही वह इस प्रकार काम करता था। लेकिन वह असमर्थता दूर होने के बजाय और भी पुष्ट होती जाती थी। यह भी देखा जा सकता है कि कमजोरियोंसे ही अपनी महत्त्व भावनाको स्थिर रखते हुए जीवन समस्याओंसे किस प्रकार पीछा छुड़ाया जा सकता है।

जीवनकी दो समस्याओंके प्रति उसका व्यवहार देखनेसे जान पड़ता है

कि उसका चित्त बहुत भारग्रस्त था। यह आत्मग्लानिका सूचक था। वह अपनेको हीन समझता था। दूसरे व्यक्तियों और नई समस्याओंको वह शत्रुवत् देखता था। उसके सभी कार्य ऐसे होते थे, मानो वह अपने शत्रुओंके देशमें आ गया हो। वह आगे बढ़ना चाहता था, परन्तु उसका भय उसकी उन्नतिमें बाधक होता था। वह सदैव अपनी कठिनताको बढ़ाकर देखता था और इससे उसका चित्त बहुत व्यग्र रहता था। संक्षेपमें वह आगे बढ़ता था, परन्तु शर्तके साथ। वह अपने घरमें ही रहना और दूसरोंका सहवास न करना ही अच्छा समझता था।

तीसरी समस्या विवाहकी है। वह स्त्री जातिसे संकोच करता था। उसको विवाहकी इच्छा थी किन्तु अपनी आत्मग्लानिके कारण वह विवाहकी कल्पनासे आशंकित हो जाता था। इसलिये वह अपनी इच्छा पूरी न कर सका। वह कभी एक लड़कीसे प्रेम करता था और कभी दूसरी से। व्यभिचारी मनुष्योंमें प्रायः यही प्रवृत्ति पाई जाती है। उनके स्वेच्छाचारका मूल कारण कायरता है, क्योंकि वे पत्नीव्रतकी जिम्मेदारियोंसे डरते हैं। इन बातोंसे हम उसके सब कामोंको एक वाक्यमें प्रकट कर सकते हैं। संक्षेपमें उसके प्रत्येक कार्यसे "हां, ...किन्तु" ध्वनि निकलती थी। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्तिकी जीवन-प्रणालीको एक वाक्यमें प्रकट किया जा सकता है।

ऐसे व्यक्तिके लिये सबसे सरल बचावका मार्ग यही होगा कि उसे दूसरों से प्रतिद्वन्दिता करनी ही न पड़े। और यह तभी हो सकता है, जब वह पृथ्वीमें अकेला ही प्राणी हो कभी-कभी ऐसे बच्चे ऐसी कल्पना किया करते हैं कि दुनियांका समाहार हो गया है और वे अकेले बच रहे हैं। ऐसे व्यक्तिके सम्बन्धमें हमारा कर्तव्य यही है कि उसमें सामाजिक रुचि उत्पन्न करें, जिसकी प्रत्येक समाजके अनुकूल व्यक्तिसे आशा की जाती है। ऐसे व्यक्तिके चित्तमें

से आत्मग्लानिका भाव घटाना जरूरी है। यह बिलकुल दूर तो नहीं हो सकता और न होना ही चाहिये, क्योंकि यह उन्नतिका आधार होता है। हमें केवल आदर्शको बदल देना चाहिये। अबतक उसका आदर्श कठिनाइयोंमें बच निकलनेका था। अब हमें उसे समझाना चाहिये, अपनेको उसने जितना हीन समझ रखा है, वास्तवमें वह उतना नहीं है, बल्कि इसी गलतीके कारण वह असफल रहा है।

एक बार विभिन्न व्यक्तियोंकी जीवन-प्रणालियोंकी विभिन्नता देखनेके लिये एक प्रयोग किया गया। तीन भिन्न प्रकृतिके बच्चोंको शेरके कठघरेके पास ले जाया गया। इन्होंने अभी तक यह जानवर न देखा था। पहिले बच्चेने पीछे फिरते हुए कहा—"चलो घर चलें।" दूसरे बच्चेने कहा—"कैसा अच्छा है।" तीसरे बच्चेने कहा—"क्या मैं इस पर थूंक दूँ?" यहां पर एक ही परिस्थितिको ग्रहण करनेके लिये तीन तरीके दीखते हैं। यह भी दिखाई पड़ रहा है कि मनुष्योंमें भयभीत होनेकी प्रवृति प्रायः रहती है; किन्तु यही भयशीलता सामाजिक व्यवहारमें आकर प्रायः व्यक्तिको समाजके अनुकूल होनेमें बाधक होती है। एक उच्च कुलका व्यक्ति कभी किसी बातके लिये प्रयत्न नहीं करना चाहता था। वह निर्बल जान पड़ता था और उसको जीविका न मिलती थी। जब घरकी स्थिति खराब हुई तो उसके भाई उसको यह कहकर चिढ़ाने लगे कि तुम बड़े बेवकूफ हो, तुम्हें कोई काम ही नहीं मिलता इत्यादि। इससे उद्विग्न होकर उसने मद्यपान आरम्भ कर दिया। कुछ समयमें ही इस व्यसनके बहुत बढ़ जानेके कारण वह दो वर्षों तक चिकित्सालयमें रहा। इससे उसको कुछ लाभ हुआ, किन्तु स्थायी नहीं। क्योंकि वह समाजमें बिना तैयारीके ही भेज दिया गया था। उसको सिवाय मजदूरीके कामके और कोई काम नहीं मिल सकता था, जिसे करना उसके लिये असम्भव था। तुरन्त ही

उसे तरह-तरहकी कल्पनायें सताने लगीं। उसे ऐसा प्रतीत होता था कि कोई व्यक्ति उसे काम न कर सकनेके लिये चिढ़ा रहा है। इसकी शराबखोरी और इस कल्पनाका परिणाम यही होता था कि वह काम न कर सकता था। इस बातसे हम जान सकते हैं कि किसी शराबीकी शराबखोरी छुड़ा देना ही इसकी चिकित्सा नहीं है। उसकी जीवन-प्रणालीमें सुधार होना चाहिये।

उपर्युक्त व्यक्तिके सम्बन्धमें मालूम हुआ कि वह बहुत प्यारमें पला था। और सदा सहायता चाहता रहता था। उसे अकेले काम करनेका अभ्यास नहीं कराया गया था। अगर उसे कुछ करनेकी शिक्षा दी गई होती, तो उसे अपने भाइयों और बहनोंके सामने अपमानित न होना पड़ता। सब बच्चोंको स्वावलम्बी बना देना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब उनकी जीवन-प्रणालीके दोष उनको समझा दियें जायें।

६

प्राचीन स्मृतियां

किसी मनुष्यकी जीवन-प्रणालीको जाननेकेलिए, उसकी शिकायतोंका कुछ विवरण सुननेके बाद, हमें उसकी पुरानी स्मृतियां पूछनी चाहिएं ; और उन्हें, उसकी बताई हुई अन्य बातोंसे, मिलाना चाहिये।

जीवन-प्रणाली किसी विशिष्ट आदर्श की ओर अग्रसर होनेसे पैदा होती है। इसलिये उसके सम्पूर्ण व्यवहारकी दिशा, प्रत्येक कार्यमें पाई जाती है। जब वह अपने अतीत पर दृष्टि डालता है तो उसकी स्मृति जो कुछ खोज लाती है, वह अवश्य ही उसके भावोंमें महत्त्वका स्थान रखती है और इस प्रकार उसके व्यक्तित्वका सूत्र मिल जाता है।

पुरानी स्मृतियोंके सम्बन्धमें प्रश्न करनेपर कुछ लोग यह जवाब देते हैं कि उन्हें कोई स्मृति नहीं है ! यह इस बातका सूचक है कि उनका बचपन सुखमय नहीं रहा है और इसलिये वह उसे याद नहीं करना चाहते। ऐसे व्यक्तियोंसे ध्यान लगाकर याद करनेकी कोशिश करनेके लिये कहना चाहिए;—

उसे तरह-तरहकी कल्पनायें सताने लगीं। उसे ऐसा प्रतीत होता था कि कोई व्यक्ति उसे काम न कर सकनेके लिये चिढ़ा रहा है। इसकी शराबखोरी और इस कल्पनाका परिणाम यही होता था कि वह काम न कर सकता था। इस बातसे हम जान सकते हैं कि किसी शराबीकी शराबखोरी छुड़ा देना ही इसकी चिकित्सा नहीं है। उसकी जीवन-प्रणालीमें सुधार होना चाहिये।

उपर्युक्त व्यक्तिके सम्बन्धमें मालूम हुआ कि वह बहुत प्यारमें पला था। और सदा सहायता चाहता रहता था। उसे अकेले काम करनेका अभ्यास नहीं कराया गया था। अगर उसे कुछ करनेकी शिक्षा दी गई होती, तो उसे अपने भाइयों और बहनोंके सामने अपमानित न होना पड़ता। सब बच्चोंको स्वावलम्बी बना देना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब उनकी जीवन-प्रणालीके दोष उनको समझा दियें जायें।

६

प्राचीन स्मृतियां

किसी मनुष्यकी जीवन-प्रणालीको जाननेकेलिए, उसकी शिकायतोंका कुछ विवरण सुननेके बाद, हमें उसकी पुरानी स्मृतियां पूछनी चाहिएं ; और उन्हें, उसकी बताई हुई अन्य बातोंसे, मिलाना चाहिये।

जीवन-प्रणाली किसी विशिष्ट आदर्श की ओर अग्रसर होनेसे पैदा होती है। इसलिये उसके सम्पूर्ण व्यवहारकी दिशा, प्रत्येक कार्यमें पाई जाती है। जब वह अपने अतीत पर दृष्टि डालता है तो उसकी स्मृति जो कुछ खोज लाती है, वह अवश्य ही उसके भावोंमें महत्त्वका स्थान रखती है और इस प्रकार उसके व्यक्तित्वका सूत्र मिल जाता है।

पुरानी स्मृतियोंके सम्बन्धमें प्रश्न करनेपर कुछ लोग यह जवाब देते हैं कि उन्हें कोई स्मृति नहीं है। यह इस बातका सूचक है कि उनका बचपन सुखमय नहीं रहा है और इसलिये वह उसे याद नहीं करना चाहते। ऐसे व्यक्तियोंसे ध्यान लगाकर याद करनेकी कोशिश करनेके लिये कहना चाहिए;—

उन्हे इस ओर प्रोत्साहित करना पड़ता है, स्मृतिके लिये सूत्र देने पड़ते हैं, और अन्तमें, उन्हें कोई-न-कोई स्मृति आ जाती है।

कुछ लोग कहते हैं कि वे पहले वर्षकी अवस्था तककी बात याद कर सकते हैं। लेकिन इसकी सम्भावना बहुत कम है। स्मृतियां, कदाचित् काल्पनिक होती हैं ; किन्तु इससे कोई हर्ज नहीं होता। ये कल्पनाएँ भी व्यक्तित्व का अङ्ग ही होती हैं और इसलिये सच्ची स्मृतियों-जैसा ही काम देती हैं।

कुछ लोगोंका आग्रह होता है कि उन्हें यह निश्चय नहीं है कि यह उनकी अपनी स्मृति है या कि उनके माता-पिताने यह बात उन्हें बताई है। इस सन्देहका भी कोई महत्त्व नहीं है ; क्योंकि यदि माता-पितासे ही उन्हें प्राप्त हुई है, तो भी उनके चित्तपर उसका अङ्कित हो जाना ही इस बातका सूचक है कि उनकी रुचि किस ओर है।

हमने व्यक्तियोंको प्रकृत्यनुसार वर्गोंमें बांटनेका सिद्धान्त निश्चित किया है। पुरानी स्मृतियां भी प्रकृतियोंके अनुसार होती हैं। उदाहरणके लिए, एक व्यक्ति यह बतलाता है कि उसने एक बड़ा सुन्दर खिलौना देखा जिसमें अमुक-अमुक प्रकारके अलङ्कार लगे थे। इस स्मृतिमें सबसे महत्त्व की बात यह है कि यह दृश्यात्मक है। उसको देखनेकी ही बात याद रही। इससे मालूम होता है कि दृश्य पदार्थोंमें उसका विशेष आकर्षण रहा है ; उसको दृष्टि सम्बन्धी किसी कठिनाईसे झगड़ना पड़ा है। इसके फलस्वरूप दृश्य पदार्थोंपर अधिक ध्यान देनेका वह आदी हो गया।

इस बातसे उसकी जीवन-प्रणालीका सबसे महत्त्वका भाग तो नहीं मालूम पड़ता ; किन्तु इतना अवश्य मालूम होता है कि यदि हम उसे किसी उपयोगी काममें लगाना चाहते हैं तो वह काम ऐसा होना चाहिये जिसमें उसकी आंखोंका उपयोग अधिक हो।

चौबीस वर्षके एक युवकको बेहोशीके दौरे आते थे। उसने स्मरण किया कि चार वर्षकी उम्रमें एञ्जिनकी सीटीसे वह बेहोश हो गया था। इससे मालूम होता है कि उसकी रुचि श्रवण-विषयक थी। बचपनसे ही वह शब्दोंके प्रति बहुत भावुक था, वह संगीत-प्रेमी था, बेसुरी आवाज़ों और शोर-गुलको वह नहीं सह सकता था। इसलिये एक सीटीकी आवाज़से उसका बेहोश हो जाना उतना आश्चर्य-जनक नहीं है।

बहुतसे बच्चों और वयस्क लोगोंकी रुचि ऐसी चीज़ोंमें हो जाती है, जिनसे कि उन्हें कष्ट उठाना पड़ता है। श्वास-रोगसे पीड़ित एक व्यक्ति के सीनेपर, बचपनमें किसी कष्टके कारण, सख्त पट्टी बांधी गई थी। इसलिये उसमें श्वास लेनेके तरीक़ोंके विषयमें विशेष रुचि उत्पन्न हो गई थी।

अब हमें गति-सम्बन्धी स्मृतियोंको देखना है। बहुत-से बच्चे कमज़ोरी या बीमारीके कारण अच्छी तरह चल नहीं सकते। उनको चलनेमें असाधारण आकर्षण उत्पन्न हो जाता है और वे जल्दी-जल्दी चलना चाहते हैं। पचास वर्षका एक आदमी एक डाक्टरके पास यह शिकायत लेकर गया कि जब कभी वह किसीके साथ सड़क पार करता है तो उसे अत्यधिक भय लगता है कि कहीं दोनों कुचल न जाएँ।

जब कोई अन्य व्यक्ति उसके साथ रहता था, तभी उसको यह भय होता था और वह अपने साथीको बचाना चाहता था। अकेले होनेपर उसे ज़रा भी भय नही होता था। वह अपने साथीका हाथ पकड़कर कभी इधर, कभी उधर, ढकेलता था—यहांतक कि उसका साथी अक्सर परेशान हो जाता था।

इस व्यक्तिने, याद करनेपर, बताया कि तीन वर्षकी उम्रमें वह अच्छी तरह चल नहीं सकता था और वह वातकी बीमारीसे पीड़ित था। सड़क पार करते समय वह दो बार दब भी चुका था। अब वह अपने व्यवहारसे यही

साबित करना चाहता था कि उसने इस कमजोरीको जीत लिया है। उसकी इस सतर्कताका तात्पर्य यह था कि संसारमें केवल वही सड़क पार कर सकता है। जब कभी उसके साथ और कोई होता था तो इस बातको साबित करनेके लिये मौका ढूंढ़ा करता था। अधिकतर लोग सड़क पार करनेको ऐसी कोई बड़ी बात नहीं समझते कि उसमें किसीसे प्रतिस्पर्धा करें और इससे अपना गौरव बढ़ावें; परन्तु इस व्यक्तिने चलनेको बहुत महत्त्व दे रखा था।

एक लड़का दुराचारकी ओर प्रवृत्त हो रहा था। वह स्कूलसे भाग जाया करता था। चोरीकी भी उसे आदत थी। उसकी पुरानी स्मृति यह थी कि वह चारों तरफ घूमना और जल्दी-जल्दी चलना चाहता था,जब कि उसे अपने पिता के पास दिन-भर बैठकर काम करना पड़ता था! उसकी चिकित्सा यह बताई गई कि वह अपने पिताके रोज़गारमें बाहर आने-जानेका कारबार किया करे।

पुरानी स्मृतियोंमें बचपनमें किसीकी मृत्युकी घटना अधिक महत्त्व रखती है। जब बच्चा किसीकी अचानक मृत्यु देखता है तो उसके मनपर इसका बड़ा गहरा असर पड़ता है। वह इससे व्याधि-ग्रस्त भी हो जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वह अपना सारा जीवन मृत्यु और बीमारीकी समस्याका सामना करनेमें ही लगा देता है।

यह कई प्रकारसे होता है। कोई बच्चा डाक्टर होना चाहता है। यह उपयोगी मार्ग है। इससे वह अपने साथ दूसरोंको भी मृत्युसे बचाता है।

कुछ बच्चोंकी प्रवृत्ति बड़ी स्वार्थमय हो जाती है। एक बच्चेके जीवनपर बड़ी बहनकी मृत्युका गहरा प्रभाव पड़ा। उससे पूछा गया—"तुम क्या होना चाहते हो?" उत्तर मिला—"मैं मुर्दा गाड़नेवाला होना चाहता हूँ।" कारण पूछनेपर उसने बतलाया कि मैं खुद नहीं गड़ना चाहता, बल्कि दूसरोंको गाड़ना चाहता हूँ।" स्पष्ट ही इस बच्चेका मार्ग अनुपयोगी जीवनकी ओर था।

अब लाड़ले लड़कोंकी स्मृतियोंको लीजिए। पुरानी स्मृतियोंमें इनका स्वभाव बड़ी स्पष्टतासे देखा जा सकता है। ये अक्सर माताका स्मरण करते हैं और उनसे किञ्चित्-मात्र भी अनिष्टकी सूचना नहीं मिलती। कभी-कभी स्मृतियां बिल्कुल स्वाभाविक-सी प्रतीत होती हैं। कभी-कभी उनके कुछ भाग स्पष्ट और छिपे हुए होते हैं। माताके सम्बन्धमें ये बात विशेषकर लागू होती हैं। जैसे कोई कहे, "मुझे याद है कि मैंने एक यात्राकी थी।" इसपर यदि उससे पूछा जाए कि उसके साथ कौन था तो मालूम होगा कि उसकी माता; या यदि कोई कहे, "मैं गर्मीके दिनोंमें देहात गया हुआ था।" उससे यदि प्रश्न किया जाय तो मालूम होगा कि पिता शहरमें काम करता था और माता बच्चेके साथ थी। इन स्वाभाविक स्मृतियोंसे यह पता चलता है कि बच्चेके लिये माताके लाड़-प्यारका क्या मूल्य है? ऐसे लोग अपने जीवनमें सदा आशङ्कायुक्त रहते हैं।

कुछ लोगोंकी स्मृतियोंसे मालूम होता है कि किसी एक बातपर उनका विशेष ध्यान है। एक लड़कीने बतलाया, "एक दिन मुझे अपनी छोटी बहनकी रखवाली करनी पड़ी। मैं उसको बहुत ही सुरक्षित रखना चाहती थी। मैंने उसको मेज़पर सुला दिया। लिटाते समय चादर फँस गई और मेरी बहन गिर पड़ी।"

यह युक्ति एक चार वर्षकी लड़की की थी। बड़ी होनेपर उसने जिस व्यक्तिसे विवाह किया, वह बहुत कोमल-प्रकृतिका और आज्ञाकारी था; किन्तु वह सदा ही उसके प्रति सन्देह और आलोचनाकी दृष्टि रखती थी। इसका कारण यही था कि बचपनमें अपनी छोटी बहनकी रक्षाके लिये अत्यन्त सतर्क रहने पर भी वह सफल न हो सकी थी। इसी घटनाका ऐसा बुरा प्रभाव पड़ा कि वह सदा इस आशङ्कामें रहती कि कहीं उसका पति किसी दूसरेको उससे

अधिक महत्व न देने लगे। परिणाम स्वरूप उसका पति उसके इस स्वभावसे घबराकर उससे विमुख हो गया।

इतनी छोटी अवस्थामें उसे छोटी बहनकी रक्षाका भार दे देना कदापि उचित नहीं था। कभी-कभी वैमनस्य या खिंचाव स्मृतियोंमें स्पष्ट रूपसे व्यक्त होता है। लोग यहाँतक याद करते हैं कि वे अपने कुटुम्बके अन्य व्यक्तियोंको नुकसान पहुंचाना या मार डालना चाहते थे। ऐसे व्यक्ति बिल्कुल ही स्वार्थी होते हैं। दूसरे व्यक्तियोंसे उनको अरुचि अथवा द्वेष होता है। ये लोग कोई भी काम पूरा नहीं कर सकते; क्योंकि उनको यह भय रहता है कि मित्रतामें उनसे अधिक महत्व दूसरेको न दिया जाय; अथवा उन्हें यह सन्देह होता है कि और लोग हमेशा उनसे आगे बढ़नेकी कोशिश कर रहे हैं। स्पष्ट ही है कि ऐसा व्यक्ति समाजके अयोग्य होता है। हर काममें उसका हृदय बहुत ही भार-ग्रस्त रहता है। प्रेम और विवाह-सम्बन्धमें उसका यह दृष्टिकोण खासतौर से व्यक्त होता है।

एक लड़का कभी स्थिर रहकर अध्ययन नहीं कर पाता था। वह निरन्तर इधर-उधर घूमता रहना चाहता था। स्कूलमें पढ़ना उसके लिये एक समस्या थी। पढ़नेका सारा समय वह किसी अन्य बातके सोचने अथवा होटल या अपने दोस्तोंके घर आनेजानेमें व्यतीत करता था। उसने याद किया कि वह एक झूलेमें पड़ा हुआ दीवारकी ओर देखा करता था। दीवारके कागज पर बहुतसे फूल-पत्ते-आदि चित्रित थे। अतः वह झूलोंमें पड़े रहनेका ही अभ्यस्त था, न कि परीक्षा देनेका। वह इसलिये एकाग्रचित्त होकर अध्ययन भी नहीं कर पाता और दूसरी चीजोंपर ही दौड़ा करता। वह दुलारा लड़का था, स्वावलम्बी न था।

अब उपेक्षित बालकको लीजिये। यह एक असाधारण स्थिति है और बहुत कम पाई जाती है। अगर जीवनके आरम्भसे ही बालक वस्तुतः उपेक्षित

हो तो उसका जीवित रहना ही असम्भव है। आम तौरसे बच्चोंके माता पिता या दाई अथवा अन्य सम्बन्धियोंमेंसे कोई-न-कोई अवश्य उससे स्नेह रखता है। वस्तुतः उपेक्षित बालक वे ही होते हैं जिनका जन्म व्यभिचारसे होता है अथवा जिनकी आवश्यकता नहीं होती और जो दुराचारी होते हैं।

ऐसे बच्चे विरक्त चित्त और उदास रहते हैं। उपेक्षाकी स्मृति उनमें अक्सर मिलती है। एक आदमीने बतलाया, "मुझे याद है कि मुझपर मार पड़ी थी। मेरी माँने मुझे यहांतक डाँटा-फटकारा कि मैं भाग खड़ा हुआ और भागते समय कहीं डूबनेसे बच आया था।"

बड़ा होने पर यह व्यक्ति एक चिकित्सकके पास गया। शिकायत यह थी कि वह घर नहीं छोड़ सकता था।

बचपनमें वह घरसे निकल कर खतरेमें पड़ चुका था और इसलिये अब भी बाहर जानेमें आपत्तियोंकी आशङ्का रहती थी। वह बुद्धिमान् लड़का था; लेकिन उसे हमेशा यह डर रहता था कि कहीं ऐसा न हो कि वह इम्तहानमें प्रथम न आवे। इस हिचकके कारण वह आगे न बढ़ पाता था। अन्तमें, जब वह विश्वविद्यालयमें पहुंचा, तो उसे यह भय रहने लगा कि वह निर्दिष्ट तरीके से प्रतिस्पर्द्धामें सफल नहीं हो सकता।

दूसरा उदाहरण एक ऐसे अनाथ बच्चेका है, जिसके माता-पिता उसकी एक वर्षकी अवस्थामें ही मर गये थे। वह रोगी था और अनाथालयमें रहनेके कारण उसकी उचित देख-रेख नहीं होती थी—किसीको उसकी चिन्ता न होती थी। बड़े होनेपर किसीसे मित्रता करना उसके लिए कठिन था; क्योंकि वह दूसरे को प्रधानता दिए जानेके सन्देहको छोड़ नहीं सकता था। अपनी आत्मग्लानिके कारण वह प्रेम, विवाह, कारबार आदि सभी ऐसे कामोंसे अलग हो गया, जिनमें दूसरोंके सम्पर्कमें आना पड़ता है। वह सदा ही अपनेको उपेक्षित देखता था।

एक दूसरा उदाहरण एक अधेड़ मनुष्यका है, जिसे अनिद्राकी शिकायत थी। छियालीस या अड़तालीस वर्षकी उम्रमें उसने विवाह किया और उसके बच्चे भी हुए। वह हर व्यक्तिकी आलोचना किया करता था और दूसरों पर, खासकर अपने कुटुम्बके अन्य लोगोंपर, बड़ा अत्याचार करता था।

इसका कारण यह था कि माता-पिता बड़े झगड़ालू थे और एक-दूसरोंको धमकियाँ दिया करते थे। इसलिये वह दोनोंसे डरता था। उसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता था और वह मैले-कुचैले कपड़े पहन स्कूल जाया करता था। एक दिन उसकी नित्यकी अध्यापिका अनुपस्थित थी। उसके स्थानपर जो दूसरी अध्यापिका आई, उसने अपने व्यवहारमें अधिक रुचि तथा आशावादिता दिखलाई। उसने इस लड़केको उत्साहित किया। लड़केने अपने जीवनमें पहली बार ही इस प्रकारका व्यवहार पाया। वह उसी समयसे उन्नति करने लगा। यह उन्नति उसे ऐसी प्रतीत होती थी जैसे पीछेसे कोई ढकेल रहा हो। वस्तुतः उसे विश्वास न था कि वह बड़ा हो सकता है; इसलिये वह तमाम दिन और आधीरात तक परिश्रम करता रहता और वह रात-भर यह सोचते रहनेका अभ्यस्त हो गया कि उसे क्या करना है। उसकी यह धारणा हो गई कि करीब-करीब रात-भर जागना सफलताके लिये आवश्यक है। उसकी महत्वाकांक्षा अपने कुटुम्बके प्रति उसके व्यवहारमें दिखलाई पड़ने लगी। चूंकि उसके कुटुम्बके लोग उससे कमजोर थे, इसलिए वह उनपर प्रभुत्व जमा सकता था! संक्षेपमें वह आत्मश्लाघाका शिकार हो रहा था और उसका यह आदर्श इस प्रकारका था, जिसके साथ बड़ी प्रबल आत्मग्लानि संयुक्त थी। भार-ग्रस्त व्यक्तियोंमें यह बात अकसर पाई जाती है। उनकी यह चित्त-वृत्ति सफलताके विश्वासका प्रमाण है और इस सन्देहको वे आत्मश्लाघासे छिपाते हैं।

पुरानी स्मृतियोंसे भावी जीवनकी बहुत-सी बातोंकी सूचना मिलती है; किन्तु इन्हें उन बातोंका कारण न समझ लेना चाहिए। इनसे केवल इस बातकी सूचना मिलती है कि क्या घटना घटी और विकास किस प्रकार हुआ, उनसे आदर्शकी ओर बढ़नेका प्रयत्न ज्ञात होता है और यह मालूम पड़ता है कि मार्गमें क्या-क्या बाधाएँ थी। उनसे यह भी पता चलता है कि किस प्रकार कोई व्यक्ति जीवनके एक अङ्गको दूसरेसे अधिक महत्व देने लगता है, इसकी रुचि विशेषका उद्गम तथा उसके विकास-क्रमका आभास तथा उसके व्यक्तित्वका, काफी हदतक, सूत्र मिल जाता है।

७

मनोवृत्तियां और चेष्टायें

जीवन-प्रणालीको जाननेके लिये पुरानी स्मृतियोंके अतिरिक्त और भी उपाय हैं एक अंगसे सम्पूर्ण व्यक्तिको जाननेका सिद्धान्त सबमें अनुस्यूत है। ऐसा एक दूसरा उपाय मनोवृत्तियों और चेष्टाओं का निरीक्षण है। शारीरिक चेष्टाओं की जड़ मनोवृत्तियोंमें होती है। और मनोवृत्तियां जीवन-प्रणालीकी सूचक होती हैं।

इस बातसे सभी परिचित हैं कि हम लोग किसी आदमीकी परख उसके उठने-बैठने, चलने-फिरने, बोलने-चालने आदिके तरीकोंसे करते हैं। इन बातोंसे व्यक्तिके प्रति कुछ न कुछ सहानुभूति अथवा उपेक्षाका भाव अवश्य पैदा हो जाता है।

पहले खड़े होनेकी बात लीजिये। कोई बच्चा या पुरुष सीधे खड़ा होता है, कोई झुक कर, इस बातको देखना कठिन नहीं है। हमें इतना ही ध्यान रखना चाहिए कि विशेष प्रवृत्ति किस ओर है। जो व्यक्ति खूब तनकर अत्य-

धिक सीधा खड़ा होता है उसके विषयमें सन्देह किया जा सकता है कि इस स्थितिमें उसकी बहुत शक्ति खर्च हो रही है, इस स्थितिसे हम अनुमान कर सकते हैं कि वह जितना बड़ा प्रकट होना चाहता है उतना बड़ा अपनेको नहीं समझता। संक्षेपमें उसकी स्थितिसे अहम्मन्यताका परिचय मिलता है।

दूसरी ओर कुछ लोग सदैव झुके हुए मालूम होते हैं। इस स्थितिसे उनकी साहस-हीनताका अन्दाजा होता है। किन्तु एक ही बातसे कोई नतीजा न निकाल लेना चाहिये। अन्य प्रमाणोंसे भी अपने अनुमानको पुष्ट कर लेना आवश्यक है। प्रायः ऐसे लोग हमेशा किसी न किसी चीज़का सहारा लिया करते हैं, जैसे टेबुल या कुर्सीका। उनकी मनोवृत्ति भी ऐसी ही होती है। उनको अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं होता। वे दूसरोंका सहारा ढूंढ़ा करते हैं। इस मनोवृत्ति और झुककर खड़े होनेकी मनोवृत्तिमें समता है। इससे उसकी कुछ पुष्टि होती है।

सहारा ढूंढ़नेवाले बच्चेपर हम प्रयोग भ [illegible] कते हैं। उसकी माताको कुर्सी पर बैठाइये और बच्चेको कमरेमें आने दीजिये। वह किसी तरफ़ न देखकर सीधे माताके पास जायगा और कुर्सी या अपनी माताका सहारा ले लेगा। इससे भी उपर्युक्त मनोवृत्तिकी पुष्टि होती है।

बच्चेका दूसरोंसे मिलनेका तरीका भी देखा जा सकता है। इससे मालूम होता है कि दूसरोंमें उसका कितना विश्वास है। जो बच्चा दूसरोंके पास नहीं जाना चाहता और हमेशा दूर खड़ा रहता है वह अन्य बातोंमें भी ऐसा ही संकोची होता है। देखा जाता है कि वह जितना चाहिये उतना बोल नहीं सकता और आमतौर पर चुपचाप रहता है।

एक स्त्री एक डाक्टरके पास चिकित्साके लिये गई। डाक्टरको आशा थी कि वह उसके नजदीक बैठेगी; किन्तु जब उसे कुर्सी दी गई तो वह इधर-उधर

देखकर दूरकी एक कुर्सी पर जाकर बैठ गई। इससे पता चलता है कि वह एक ही व्यक्तिसे सम्बन्ध रखना चाहती थी। उसने अपनेको विवाहिता बतलाया। इससे उसकी सारी जीवनीका अनुमान हो सकता है। यह समझा जा सकता है कि वह अपने पतिके अतिरिक्त और किसीसे सम्पर्क नहीं रखना चाहती थी। यह भी समझा जा सकता है कि वह लाड़-प्यारकी आंकांक्षा रखती थी। वह उस वर्गकी स्त्री थी जो अपने पतिसे यह आशा रखती है कि वह घर आने आदिके मामलोंमें बहुत संयत होगा और सदा औचित्य तथा अनौचित्यका ध्यान रखेगा। वह दूसरोंसे मिलना-जुलना पसन्द न करेगी, अकेले घरसे बाहर जाना उसे कभी रुचिकर न होगा और अकेले होने पर वह चिन्ताग्रस्त या आशंकित हो जायगी। अर्थात् उसकी शारीरिक चेष्टासे भी सारी मनोवृत्ति जानी जा सकती है। इसकी पुष्टि कर देना भी असंभव नहीं है। जैसे वह बतलाती है,—"मैं आशंका-रोगसे ग्रस्त हूं।' तो यह अवश्य ही इस बातकी पुष्टि है कि उसकी यह व्याधि किसी अन्य व्यक्ति पर प्रभुत्व स्थापित करनेका साधन है। इस व्याधिसे पीड़ित व्यक्तिके सम्बन्धमें यह अनुमान किया जा सकता है कि वह किसी अन्य व्यक्तिका आश्रय लिये हुए है।

कुछ लोग सदा मकानकी दीवारके सहारे खड़े होते हैं। यह उनके अपर्याप्त साहस और परावलम्बिताका परिचायक है। एक लड़का था जो स्कूलमें आने पर बहुत संकोच करता दिखाई देता था जिससे मालूम होता था कि वह दूसरोंसे सम्बन्ध करनेमें अनिच्छुक था। उसका कोई मित्र न था और वह सदैव छुट्टीके समयकी प्रतीक्षा किया करता था। वह बहुत धीरे-धीरे चलता था और दीवारसे सटकर सीढ़ियोंसे उतरता था। वह अच्छा विद्यार्थी भी न था। स्कूलके काममें बहुत पीछे रहता था क्योंकि स्कूलमें रहना ही उसके

लिये कष्टकर होता था। वह सदा ही अपनी माताके पास जाना चाहता था जो एक दुर्बल हृदय विधवा थी। वह उसे बहुत लाड़-प्यार करती थी।

चिकित्साके लिये डाक्टरने उसकी मातासे पूछा—'क्या यह लड़का आसानीसे सो जाता है?' उत्तर मिला, 'हाँ'। फिर प्रश्न हुआ—'क्या यह लड़का रातको रोता नहीं?' उत्तर मिला—'नहीं'।' फिर—'क्या वह सोते समय लघुशंका नहीं करता?' उत्तर—'नहीं।' इससे डाक्टरने यह परिणाम निकाला कि लड़का अवश्य ही अपनी माँ के साथ सोता होगा; क्योंकि बच्चों का रातको रोना वगैरह माताको आकर्षित करनेके लिये ही होता है और अगर माँ उनके साथ है तो इनकी जरूरत न होगी। डाक्टरका यह अनुमान ठीक निकला। इससे मालूम होता है कि एकान्त रूपसे बच्चेका अभीष्ट उसकी माँ के साथ बँध गया और उसके सारे कार्य नियमित रूपसे इसी प्रयोजनकी सिद्धि करते थे। इससे यह भी पता चलता है कि लड़केके जीवनका प्रत्येक व्यवहार असम्बद्ध होकर एक सुसंगत जीवन-प्रणालीका परिचायक था। ऐसे लड़केके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता कि वह कमज़ोर दिमागका था। क्योंकि संगत व्यवहार बुद्धिमत्ताका लक्षण है।

अब मानसिक चेष्टाओं अथवा मनोवृत्तियोंको लीजिये। कुछ लोग झगड़ालू होते हैं और कुछ लोग बड़े सहनशील और त्यागमय दिखाई पड़ते हैं। किन्तु अधिकतर यह बात ऊपरी होती है। वास्तवमें ऐसे लोगोंके मनमें और लोगोंसे अधिक संघर्ष होता रहता है। जो व्यक्ति कुटुम्बमें सबके प्रेमपात्र होते हैं वे बड़े त्यागमय दिखाई देते हैं। हर एकको उनकी चिन्ता करनी पड़ती है। उन्हें ठेल-ठेलकर आगे बढ़ाना पड़ता है। उन्हें सदा किसी न किसीका आश्रय चाहिये। वे दूसरोंके लिए भारस्वरूप हो जाते हैं। यह उनका दूसरोंपर शासन करनेकी इच्छाका परिचायक है जो उनकी आत्मग्लानिसे पैदा होती है।

एक सत्रह वर्षका लड़का था जो अपने माता-पिताकी सबसे बड़ी सन्तान था। वह बड़ा मनहूस और चिड़चिड़ा था। उसकी कोई जीविका न थी। एक बार उसने आत्महत्या करनेका प्रयत्न किया। इसके बाद ही एक डाक्टरके पास आया और कहा कि आत्महत्याके प्रयत्नके पहिले उसने स्वप्नमें अपने पिताकी हत्या कर डाली थी। यहाँपर, एक अकर्मण्य व्यक्तिके हृदयमें जो चेष्टा छिपी रह सकती है उसका प्रमाण मिलता है। जो लड़के स्कूलमें बहुत ही आलसी दिखाई देते हैं और कुछ भी करनेके अयोग्य जान पड़ते हैं, किस प्रकार खतरेके नजदीक हो सकते हैं यह दिखाई देता है। अकर्मण्यता ऊपरसे दिखाई देती है। एकाएक कोई बात हो जाती है और ये आत्महत्या कर बैठते हैं या विक्षिप्त हो जाते हैं।

बच्चेमें संकोचकी अधिकता भी बहुत हानिकारनक है। इसका सुधार न होनेसे उसका जीवन ही खराब हो जाता है। उसे जीवनमें भी कठिनाईका सामना करना पड़ता है क्योंकि आधुनिक सभ्यतामें साहसी व्यक्ति ही जीवनमें सफलता प्राप्त कर सकते हैं। अगर उन्हें कहीं हार खानी पड़ती है तो वे इससे उतने दुखी नहीं होते, किन्तु संकोचशील व्यक्ति कठिनाई सामने आते ही अनुपयोगी जीवनकी ओर प्रवृत्त हो जाता है। ऐसे बच्चे प्रायः पीछे विक्षिप्त हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति या तो दूसरोंसे बिल्कुल नहीं मिलते, किनारे रहते हैं या जब दूसरोंसे मिलते हैं तो बोलते नहीं अथवा हकलाते हैं और छिपते हुए-से चलते हैं।

उपर्युक्त मानस-चेष्टायें ही हमारा स्वभाव बनाती हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि वे जन्मजात होती हैं। बचपनके अनुभव और ग़लतियोंके कारण किसी परिस्थितिका उत्तर देनेका जो प्रकार हमारे चित्तपर अंकित हो जाता है वही हमारा स्वभाव कहलाता है। इसीलिए जीवन प्रणालीका वह भाग जो

बचपनमें बनता है जिसे प्रकृति कह सकते हैं, बहुत आसानीसे समझा जा सकता है।

उदाहरणके लिए जीवनके आरम्भकालमें देख सकते हैं कि साहसहीन बच्चेके प्रत्येक व्यवहारमें किस प्रकार उसका स्वभाव प्रतिबिम्बित होता है। झगड़ालू और कायर लड़केमें बड़ा अन्तर होता है। झगड़ालू लड़केमें कुछ न कुछ साहस अवश्य रहता है। कभी-कभी बड़ा कायर लड़का भी वीरताका प्रदर्शन करता है। ऐसा तब होता है जब वह जान-बूझकर सम्मान प्राप्त करना चाहता है। एक लड़का तैरना नहीं जानता था, कुछ दूसरे लड़कोंने उसे अपने साथ तैरनेको कहा। वह उनके साथ चला गया। पानी अधिक था और वह डूबते-डूबते बच गया। इसे कोई सच्चा साहस नहीं कह सकता। प्रशंसाकी आकांक्षासे ही उसने खतरेकी उपेक्षा की थी। और दूसरोंसे बचाये जानेकी आशा करता था।

भाग्यवादितासे साहस और कायरताका बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। जो लोग आत्मश्लाघा युक्त होते हैं वे समझते हैं कि वे कोई भी काम कर सकते हैं और सब कुछ जानते हैं, उन्हें कुछ सीखनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। ऐसे बच्चे स्कूलकी परीक्षाओंमें प्रायः कम अंक पाते हैं। बहुतसे लोग ऐसे काम करना चाहते हैं जो बड़े खतरनाक हों। वे समझते हैं कि उनके सामने कोई भी आपत्ति नहीं ठहर सकती। इस मनोवृत्तिका परिणाम प्रायः अनिष्टकर होता है। इस प्रवृत्तिकी उत्पत्ति किसी भयानक घटनासे संयोगवश बिना हानि उठाये बच जानेसे होती है। ऐसे लोगोंका विश्वास हो जाता है कि वे किसी बड़े उद्देश्यकी सिद्धिके लिए ही बनाये गये हैं। एक मनुष्य जो इस भावनाका शिकार था अपनी आशाओंके प्रतिकूल एक अनिष्ट-कर घटनाके बाद बिल्कुल ही साहस खो बैठा और मनहूस रहने लगा। उसने अपनी पुरानी स्मृति यह

बतलाई कि एक बार वह किसी थियेटरमें जाना चाहता था। वहाँ जानेके पहले उसे एक अन्य काम कर लेना था। अन्तमें जब वह थियेटरमें पहुंचा तब तक वह नाट्यशाला आकस्मिक रूपसे आग लग जानेसे जलकर भस्म हो चुकी थी। मानो उस व्यक्तिकी रक्षाके लिए ही नियतिने ठीक अवसरपर उस व्यक्ति-को वहाँ उपस्थित होनेसे रोक दिया था। यहाँ आसानीसे देखा जा सकता है कि उसके चित्तमें अपने जीवनके महान् उद्देश्यकी भावना किस प्रकार पैदा हो गई थी। पीछे वह अपने दाम्पत्य जीवनमें असफल हुआ तब उसके चित्तको बड़ी चोट पहुँची।

नियतिवादका प्रभाव व्यक्तियोंपर ही नहीं है वरन् वह समूचे समाज और सभ्यतातक पहुँचता है। यहाँ इतना ही दिखा देना पर्याप्त है कि मानस चेष्टाओंकी उत्पत्तिके साथ इसका क्या सम्बन्ध है। यह विश्वास कई प्रकारसे कर्मण्यतासे भाग जानेका उपाय बन जाता है। इसलिये इसका आश्रय धोखेकी टट्टी है। थोड़ा-सा स्पर्धाका भाव प्रत्येक व्यक्तिमें होता है। इससे कोई हानि भी नहीं होती, प्रत्युत इसके परिणाम स्वरूप कर्म्ममें प्रवृत्ति होती है और कठिनाइयोंका सामना करके उन्नति करनेका उत्साह होता है। किन्तु जब यह भाव ईर्ष्याका रूप धारण करता है तब इससे लाभकी आशा नहीं। ईर्ष्याका भाव निश्चित रूपसे आपत्तिजनक है।

ईर्ष्याका मूल बड़ी गहरी आत्मग्लानि है। ईर्ष्यालु व्यक्तिको यह भय होता है कि वह अपने सहचरपर प्रभुत्व न रख सकेगा। वह उसे प्रभावित करनेके प्रयत्नमें भी ईर्ष्यालु व्यवहारसे अपनी कमजोरीका परिचय देता है। यदि ऐसे लोगोंकी बचपनकी स्मृति देखी जाय तो कोई न कोई असफलता अवश्य दिखाई देगी। इनके सम्बन्धमें सदा यह सन्देह कर लेना चाहिये कि कहीं यह लड़कपनमें अपने गौरवसे पतित तो नहीं हैं और इसीलिए निरन्तर आशंकामें रहते हैं।

ईर्ष्या का विशिष्ट रूप स्त्री जातिमें पुरुषोंके श्रेष्ठ सामाजिक पदके प्रति देखा जाता है। बहुत-सी स्त्रियां और लड़कियां पुरुष और लड़के बनना चाहती हैं। इसका कारण यही है कि हमारी सभ्यतामें पुरुषको अधिक प्रधानता दी जाती है। औचित्यके विचारसे इस स्थितिमें सुधार होना चाहिये क्योंकि वर्त-मान अवस्था न्यायपूर्ण नहीं है। लड़कियां देखती हैं कि कुटुम्बमें लड़के अधिक आरामसे रहते हैं। उन्हें छोटी-छोटी बातोंमें झंझट नहीं उठानी पड़ती और वे अधिक स्वतन्त्र हैं। इससे वे अपनी स्थितिसे असंतुष्ट होकर लड़कोंकी नकल करने लग जाती हैं। इस अनुकरणके कई रूप होते हैं; जैसे लड़कोंके समान कपड़े पहिनना। चूंकि लड़कोंके कपड़े अधिक सुखप्रद हैं इसलिए माता भी कभी-कभी इस रुचिका समर्थन कर देती है। इसमें कोई हानि भी नहीं है। इसी प्रकार कुछ अन्य बातोंका अनुकरण उपयोगी होनेके कारण त्याज्य नहीं है, जैसे पुरुषोंकी तरह जीविका प्राप्त करनेके योग्य बनना। किन्तु कुछ बातें अनुपयोगी हैं। जैसे कोई लड़की,लड़केके नामसे पुकारी जाना चाहती है और अपने स्वीकृत नामसे न पुकारे जाने पर बहुत क्रुद्ध होती है। इसे केवल बाल-कौतुक न सम-झना चाहिए। यह प्रवृत्ति भावी जीवनमें विवाह सम्बन्धके विरोध रूपमें प्रकट हो सकती है। और यदि विवाह हो जाय तो दाम्पत्य-जीवनके विरोधका रूप धारण कर सकती है। स्त्रीका अपने स्त्रीत्वसे ही असन्तुष्ट रहना और पुरुषोंके दोषोंकी नकल करना किसी प्रकार उचित नहीं। यह प्रवृत्ति युवावस्थामें प्रकट होती है क्योंकि प्रकृतिके दूषित होनेका यही समय है। लड़कियोंकी अर्ध-विकसित बुद्धिमें लड़कोंके अधिकारोंके प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। यह आत्मश्लाघाका एक रूप है। यह उचित विकाससे विमुख होता है। इसके कारण लड़कियोंके मनमें विवाहके प्रति विरोध तो उत्पन्न हो जाता है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह विवाह ही नहीं करना चाहती। विवाह न

करना तो इस सभ्यतामें एक असफलता समझी जाती है। इस संघर्षका परिणाम और भी भयानक होता है। जो लोग स्त्री पुरुषकी समानताके समर्थक हैं उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि यह समानता वास्तविकता और स्वाभाविकतासे विरुद्ध न पड़ जाय। उन्हें स्त्रियोंकी पुरुषोंके सम्बन्धमें उपर्युक्त ईर्ष्या-भावको प्रोत्साहन न देना चाहिए। कारण कि यह वास्तविकताका विरोध करना है। इससे समस्त दाम्पत्य-जीवन नष्ट हो सकता है और बहुत-सी अनिष्टकर व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। इसका बीज सदा बचपनमें ही अंकुरित होता है।

इससे बिल्कुल प्रतिकूल स्थिति भी देखी जाती है। कभी-कभी ऐसे लड़के भी देखे जाते हैं जो लड़कियोंके समान होना चाहते हैं। ये साधारण लड़कियोंकी नक़ल न करके खास तौरसे चञ्चल लड़कियोंका अनुकरण करते हैं। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि लड़के चेहरे पर पाउडर लगाते हैं और फूल पहिनते हैं। इनकी चेष्टायें उच्छृङ्खल लड़कियोंकी तरह होती हैं। यह भी आत्मश्लाघाका ही एक रूप है।

ऐसे लड़कोंके बचपनका निरीक्षण करनेसे ज्ञात होता है कि वे ऐसी परिस्थितिमें पले हैं जिसमें किसी स्त्रीका प्राधान्य था। इस कारण वे पिताका अनुकरण न करके माताका ही अनुकरण करने लगते हैं।

एक लड़का कुछ काम-विकारोंसे पीड़ित था। उसने बताया कि वह हमेशा अपनी माँके साथ रहा। घरमें पिताकी सत्ता नगण्य-सी थी। उसकी माता विवाहके पहले कपड़ा सिया करती थीं। विवाहके बाद भी उसने अंशतः यह काम जारी रखा था। लड़का चूंकि हमेशा उसके नजदीक रहता था अतः माताके काममें उसे दिलचस्पी पैदा हो गई। वह सिलाई करने लगा। स्त्रियोंके कपड़ों पर बूटे बनाने लगा। उसकी माँ प्रतिदिन ठीक चार बजे बाहर जाया

करती थी और पाँच बजे लौट्या करती थी। इस कारण लड़केको चार वर्षकी आयुमें समय मालूम करनेकी योग्यता आ गई थी। माताके पास होनेसे उसे जो आनन्द होता था उसकी प्रेरणासे उसने घड़ी देखना सीख लिया। इससे मालूम होता है कि माताके प्रति उसका कितना आकर्षण था।

बादको जब वह लड़का स्कूलमें प्रविष्ट हुआ तो उसका व्यवहार लड़कियों का-सा था। वह खेल-कूदमें भाग न लेता था। जैसा कि ऐसी स्थितिमें प्रायः देखा जाता है, लड़के उससे परिहास करते थे। कभी-कभी वे उसका चुम्बन भी लेते थे। एक दिन उन्हें कोई नाटक खेलना था। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उसने अपना स्त्रीका पार्ट इतनी अच्छी तरह खेला कि दर्शकोंने उसे लड़की ही समझ लिया। एक दर्शक तो उससे प्रेम भी करने लग गया। इस प्रकार इस लड़केकी यह भावना हो गई कि यद्यपि पुरुषत्वसे उसे आदर नहीं मिल सकता फिर भी स्त्रीत्वसे उसे बड़ा गौरव प्राप्त हो सकता है। यहीं उसकी भावी व्याधियोंका निदान था।



स्वप्न और उनकी व्याख्या

यहाँपर हम उन अचेतन या अर्द्ध-चेतन अवस्थाके मानस-व्यापारों-की चर्चा करना चाहते हैं, जिन्हें स्वप्न कहते हैं। वैयक्तिक मनोविज्ञानके मतानुसार चेतनावस्था और अचेतनावस्था एक ही वस्तुकी भिन्न-भिन्न मात्राओंके नाम हैं। स्वप्न भी व्यक्तित्वका उसी तरह एक अंश है, जिस तरह जाग्रत जीवन। वह मनुष्यकी जीवन-प्रणालीका द्योतक होता है। उदाहरणार्थ, हम जानते हैं कि अधिकांश मनुष्य आशंकाशील होते हैं। इसलिए भय, खतरे और आशंकाके स्वप्नोंका अधिक होना स्वाभाविक ही है। यदि किसी व्यक्तिका आदर्श जीवनकी कठिनाइयोंसे भागना है, तो वह अक्सर नीचे गिरनेका स्वप्न देखता है, मानों यह स्वप्न उससे कह रहा हो कि—आगे मत बढ़ो, अनिष्टकी आशंका है। इस प्रकार वह अपनी आशंकायुक्त मनोवृत्तिको ही स्वप्नोंमें व्यक्त करता है। गिरनेका स्वप्न देखनेवालोंकी संख्या बहुत बड़ी है।

एक विशिष्ट उदाहरण एक विद्यार्थीका है, जिसकी परीक्षा क़रीब थी। वह दिन-भर व्यग्र रहता था, एकाग्रचित्त होकर अध्ययन न कर सकता था। अन्तमें वह यह सोचता था कि अब तो समय ही नहीं रहा। उसकी मनोवृत्ति परीक्षा-से भागने की थी। वह गिरनेका स्वप्न देखता था; क्योंकि इससे उसके भाव की पुष्टि होती थी।

एक दूसरा विद्यार्थी, जिसमें साहस तथा आत्मविश्वास था और जो अध्य-यनमें उन्नतिशील था, परीक्षाके पहले यह स्वप्न देखता है कि वह एक ऊँचे पहाड़पर चढ़ा हुआ है। और, पहाड़की चोटीसे आसपासके दृश्यका आनन्द लेते हुए वह जाग पड़ता है। इससे उसकी सफलता-प्राप्तिका आदर्श विदित होता है।

जो लोग सीमाएँ बाँधकर चलते हैं, वे स्वप्नमें भी अपनेको सीमित तथा व्यक्तियों और कठिनाइयोंसे बचनेमें असमर्थ पाते हैं। वे अक्सर यह स्वप्न देखते हैं कि कोई उनका पीछा कर रहा है।

कल्पित स्वप्न भी जीवन-प्रणालीको ठीक उतनी ही मात्रामें बतलाता है, जितना वास्तविक स्वप्न; क्योंकि कल्पना भी जीवन-प्रणालीका ही अनुसरण करती है। किन्तु कल्पना सदैव वस्तुस्थितिकी ठीक नक़ल नहीं होता। उदाह-रणार्थ—कुल लोग वस्तुस्थितिकी अपेक्षा कल्पनामें ही अधिक रहते हैं। ऐसे लोग दिनमें तो बड़ी कायरताका परिचय देते हैं, किन्तु स्वप्नोंमें बड़ा साहस दिखलाते हैं। फिर भी उनके स्वप्नोंमें कुछ-न-कुछ संकेत इस बातका अवश्य मिलता है कि वह अपना काम अन्त तक पूरा नहीं करना चाहते।

स्वप्नका प्रयोजन महत्त्वकांक्षाका रास्ता साफ़ करना होता है। मनुष्य अपनी प्रत्येक चेष्टा और लक्षणसे उस प्रयोजनकी सिद्धिके लिए एक प्रक़ारका अभ्यास-सा करता है। स्वप्नके प्रयोजनका व्यञ्जन सम्बद्ध और सङ्गत नहीं होता

और न सत्यपर ही स्थित होता है। उसका प्रयोजन केवल एक भावको उत्पन्न कर देना है। उसकी सारी गुत्थियोंको सुलझाना असम्भव है। किन्तु इस बातमें भी जागृत जीवनसे इसकी मात्रामें ही भेद है। हम यह जानते ही हैं कि व्यक्तिका मानस-व्यवहार अपनी-अपनी जीवन-प्रणालीके अनुसार होता है; उसे शुद्ध तर्ककी कसौटीपर नहीं कसा जा सकता, यद्यपि समाज-स्वीकृत कसौटी की ओर उसे ले जाना हमारा कर्त्तव्य अवश्य है। इस कारण स्वप्नका तर्कविरुद्ध होना कोई विशेष बात नहीं है।

प्राचीन कालके लोगोंको स्वप्न बड़े रहस्यमय मालूम होते थे, और वे भविष्यद्वाणीके रूपमें देखते थे। इस बातमें थोड़ी-सी सचाई भी थी; क्योंकि जब स्वप्न मनुष्यकी समस्याओंको उसके आदर्शोंसे सम्बद्ध करता है, तो एक अर्थमें मनुष्य उस आदर्शकी प्राप्तिके लिए स्वप्नमें अपनेको तैयार ही करता है—अर्थात् स्वप्नको वास्तविक बनानेकी ही तैयारी करता है। इसलिए बहुधा उसके स्वप्नोंका सच निकलना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। अथवा, यों कहिए कि अपनी बुद्धिके अनुसार थोड़ा या बहुत प्रत्येक मनुष्य भविष्यका अनुमान जागृत अवस्थामें भी करता है, और स्वप्नावस्थामें भी—जैसे यदि कोई स्वप्न देखे कि उसका कोई परिचित मर गया है और वह वास्तवमें मर जाय, तो यह कोई बहुत असाधारण बात नहीं है। कदाचित् वह यही समझ रहा है, जैसा कोई अनुभवी चिकित्सक या कोई निकट सम्बन्धी अवस्था-विशेषमें समझ सकता है।

स्वप्नोंकी भविष्यद्वाणी-सम्बन्धी व्याख्यामें जो यह थोड़ा-सा सत्य है, इसी से वह अन्धविश्वासियोंका बड़ा भारी आश्रय है। जो लोग अपनेको भविष्य-वक्ता दिखलाना चाहते हैं, वे भी इसके समर्थक होते हैं। इस अन्धविश्वास और स्वप्न-सम्बन्धी रहस्यको मिटानेके लिए यह बतला देना आवश्यक है कि

बहुत कम लोगोंमें इतनी आत्मनिरीक्षण-शक्ति होती है कि जागृत जीवनमें भी वे यह जान सकें कि वे किस ओर जा रहे हैं। और, स्वप्नका विश्लेषण तो जागृत व्यवहारके विश्लेषणसे कहीं अधिक दुर्गम होता है। यही कारण है कि अधिकांश लोग अपने स्वप्नोंको नहीं समझते।

स्वप्नकी विचारशैली जाननेके लिये हमें उनकी तुलना जागृत जीवनके सामाजिक व्यवहारसे न करके वैयक्तिक बुद्धिसे करनी चाहिए। कोई दुराचारी अपने कार्यके समर्थनके लिये कोई युक्ति अथवा भाव बना लेता है जैसे— कोई खूनी यह कहे कि इस आदमीके लिए जीवनमें कोई स्थान नहीं है, इस-लिए इसे मार ही डालना चाहिए। इस युक्तिसे वह हत्याके लिये अपने मनमें अनुकूल भाव उत्पन्न करता है।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति यह समझ सकता है कि अमुक व्यक्तिके पास कोई वस्तु है, जो उसके पास नहीं है। ईर्षावश उसकी महत्वाकांक्षा उस वस्तुको प्राप्त करनेमें ही संलग्न हो जाती है, और तब वह स्वप्नमें ऐसा भाव उत्पन्न करता है जो उसकी इष्ट प्राप्तिमें सहायक हो। बाइबिलमें यूसुफ़का स्वप्न ऐसा ही है। उसने देखा कि अन्य सब लोग उसके सामने झुके हुए हैं। इस स्वप्नका उसके जीवनकी अन्य बातोंसे खूब मेल खाता है—जैसे विविध रङ्गवाले कोटकी बात और भाइयों द्वारा उनके देश निकाले की घटना।

दूसरा प्रसिद्ध स्वप्न यूनानी कवि साइमनाइड्सका है। उसे एक व्याख्यान के लिये एशिया-माइनरसे निमन्त्रण मिला था। जहाज़ बन्दरगाहमें उसके लिये ठहरा हुआ था। किन्तु वह निरन्तर अपनी यात्रा स्थगित करता जा रहा था। मित्रोंने भी उसे भेजनेका प्रयत्न किया, किन्तु उसने उनकी न सुनी। उसने स्वप्न देखा—एक मृत पुरुष, जिसको उसने किसी समय जङ्गलमें पाया था, उसके सामने उपस्थित हो कह रहा है, तुम्हारा व्यवहार बड़ा धार्मिक था।

जङ्गलमें तुमने मेरे प्रति कृपा दिखलायी। इसलिए मैं तुमको चेतावनी देता हूँ कि एशिया-माइनर न जाओ।' साइमनाइडूस जागा, उसने कहा—"मैं न जाऊंगा।' किन्तु उसकी न जानेकी प्रवृत्ति तो पहले ही से थी। उसकी पुष्टिके लिए स्वप्नने उसके अनुकूल भाव मात्र उत्पन्न किया, यद्यपि यह अपने स्वप्न-को स्वयं नहीं समझा। तात्पर्य यह कि आत्मप्रवञ्चनाके लिए मनुष्य स्वप्नमें एक कल्पनाका निर्माण करता है। इसके परिणामस्वरूप उसमें अनुकूल भाव उत्पन्न हो जाता है; यही बहुधा स्मरण रह जाता है; और स्वप्नकी अन्य सब बातें भूल जाती हैं।

यहांपर यह भी देख लेना चाहिए कि स्वप्नोंकी व्याख्याका तरीका क्या है। स्वप्न मनुष्यकी रचनाशक्तिका एकअंश है साइमनाइडूसने अपनीकल्पनाशक्तिको प्रचालित किया और एक कार्य-कारण-सन्बन्ध उपस्थित कर दिया। उसने मृत मनुष्यका अनुभव इसलिए चुना कि उसके मस्तिष्कमें मृत्युके विचार मँडरा रहे थे। वह जहाज़पर यात्रा करनेसे डर रहा था, वह समुद्री बीमारीसे ही भीत नहीं हो रहा था, उन दिनों सामुद्रिकक यात्राओंमें वस्तुतः खतरे थे। उसको डर था कि जहाज डूब न जाय। इसी कारण वह हिचक रहा था। यदि हम इस तरीकेसे चलें तो स्वप्नोंकी व्याख्यामें अधिक कठिनाई न हो। हमें याद रखना चाहिए कि स्वप्नमें स्मृतियों, कल्पनाओं और चित्रोंका चुनाव व्यक्तिकी मानसिक गतिकी दिशाका सूचक होता है। इससे उसकी प्रवृत्तियां मालूम होती हैं, और अन्तमें हम जान सकते हैं कि वह किस आदर्शको प्राप्त करना चाहता है।

उदाहरणके लिए एक विवाहित पुरुषका स्वप्न लीजिए। वह अपने कौटुम्बिक जीवनसे सन्तुष्ट नहीं था। वह इस विचारसे सदा व्यग्र रहता था कि उसकी पत्नी उसके दोनों बच्चोंकी ठीक देखभाल नहीं करती, और अन्य कामों

में बहुत अधिक ध्यान देती है। वह उसकी सदा आलोचना किया करता और उसे सुधारनेका प्रयत्न भी करता था। एक रातको उसने स्वप्न देखा—'उसके एक तीसरा बच्चा हुआ है। बच्चा खो गया है, और मिल नहीं रहा है। उसने अपनी पत्नीकी भर्त्सना की; क्योंकि उसने बच्चेकी देखभाल नहीं की।' यही उसकी मनोवृत्तिका पता चलता है। उसे यह आशंका थी कि उसका कोई बच्चा खो जायगा। लेकिन वह अपने दोनों बच्चोंमेंसे किसीके खो जानेकी कल्पना करनेका साहस न रखता था, इसलिये उसने तीसरे बच्चेका आविष्कार कर लिया। एक दूसरी बात यह भी ध्यान देनेकी है कि वह अपने बच्चोंको प्यार करता था, और वह नहीं चाहता था कि वे खो जायं। इसके अतिरिक्त उसका यह भी भाव मालूम होता है कि उसकी पत्नी दो बच्चोंसे ही भारा-वनत हो गयी और तीसरेकी रक्षा नहीं कर सकती। उसे तीसरे बालकके नष्ट हो जानेकी आशंका थी। इस स्वप्नका एक दूसरा पहलू भी हमारे सामने आ जाता है। उसका आशय यह कि तीसरा बच्चा होना उचित है अथवा नहीं।

इस स्वप्नका वास्तविक फल यह था कि उसने अपनी पत्नीके विरुद्ध एक भाव उत्पन्न किया। यद्यपि कोई भी बालक खोया नहीं था, फिर भी वह अपनी पत्नीके प्रति विरोध-भाव लिये हुए जागा और उसकी आलोचना करने लगा। इस प्रकार प्रायः लोग किसी स्वप्नके परिणामस्वरूप सबेरे चिड़चिड़े होकर उठते हैं। यह वैसी ही मदोन्मादकी अवस्था है, जैसी संन्यास-रोगकी होती है जो अपनेको असफलता, मृत्यु और सर्वनाशकी भावनाओंसे उन्मत्त कर लेता है। इस स्वप्नमें यह भी देखा जाता है कि उस मनुष्यने वही स्थिति चुनी है, जिसमें उसे अपने प्रभुत्वका निश्चय था। जैसे—उसका यह भाव कि "मैं अपने बच्चोंकी चिन्ता रखता हूं, पर मेरी पत्नी नहीं रखती, और इसलिए एक खो गया"—उसकी प्रभुत्वाकांक्षाका साक्षी है।

स्वप्नके सम्बन्धमें मानस-जीवनकी एकता और आवेगकी विशेषता, इन दो सामान्य सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया जा सकता है। आवेगकी सहचरी आत्मप्रवञ्चना होती है, और यह कई रूपोंमें व्यक्त हो सकती है। कभी-कभी यह उपमाओं और रूपकोंके अधिक प्रयोगमें निहित रहती है; क्योंकि तुलना धोखा देनेका एक बहुत प्रवल साधन है। जिन लोगोंको यह सन्देह होता है कि वे वास्तविकता और तर्कके वल पर किसीको अपनी बातका विश्वास नहीं दिला सकते, वे ही तुलनाओंका आश्रय लेते हैं और निरर्थक तथा दुराकृष्ट समानताओंके द्वारा प्रभावित करना चाहते हैं। यद्यपि कवियोंके द्वारा उपमाओं और रूपकोंका व्यवहार तथा तज्जनित आत्मप्रवञ्चना आनन्ददायक होती है, तथापि इतना तो निश्चय ही है कि उनका प्रयोजन भी सीधे शब्दोंकी अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादन ही होता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति किसी विषयके स्पष्टीकरणमें कठिनाईका अनुभव करता है, तो वह उपमाओं और दृष्टान्तोंका प्रयोग करता है। संक्षेपमें यह आत्मप्रवञ्चनाका रसात्मक तरीक़ा है। इसीलिए स्वप्न-चित्रोंके चुनावमें इसका प्राधान्य होता है।

उपर्युक्त आत्मप्रवञ्चनाके सिद्धान्तसे स्वप्नोंके रोकनेका उपाय भी मालूम हो जाता है। यदि कोई यह समझ ले कि वह अपनेको धोखा देता रहा है, तो वह अवश्य ही स्वप्न न देखेगा। उसके लिए स्वप्न देखनेका कोई उपयोग न रहेगा। हां, यह अवश्य है कि इस सम्बन्धमें पूर्ण रूपसे और हार्दिक भाव-परिवर्तन होना चाहिए। इस विज्ञानके प्रणेता ऐडलर महोदयका इस सम्बन्धमें निजी अनुभव है। गत महासमरके समय अपने कार्यके सिलसिलेमें वह एक आदमीको युद्ध-क्षेत्रमें खतरनाक मौके पर भेजनेके विरुद्ध बहुत प्रयत्न कर रहे थे। स्वप्नमें उनके हृदयमें यह भाव आया कि उन्होंने किसीकी हत्या कर डाली है; किन्तु वह यह न जान सके कि किसकी हत्या की है। इसी चिन्तामें

कि 'मैंने किसीकी हत्या कर डाली', उन्होंने अपना चित्त उद्विग्न कर लिया। बात यह थी कि वह इस भावमें प्रमत्त हो गये थे कि उस सैनिकको मृत्युसे बचानेके लिए—सबसे अनुकूल स्थितिमें रखनेके लिए—यथाशक्ति प्रयत्न किया जाय। स्वप्नका भाव इस विचारकी पुष्टिमें सहायक था, किन्तु इस प्रवञ्चनाका भेद समझते ही उनका स्वप्न देखना एकदम बन्द हो गया; क्योंकि उन्हें ऐसी बातोंके लिये अपनेको धोखा देनेकी आवश्यकता नहीं थी, जिन्हें करना या न करना औचित्यके विचारसे इष्ट था।

उपर्युक्त प्रश्नमें इस प्रश्नका भी उत्तर मिल जाता है कि कुछ लोग क्यों कभी स्वप्नमें नहीं देखते। वे लोग अपनेको धोखा नहीं देना चाहते। वे कर्म और सत्यमें इतने निरत हैं कि उनको इसकी आवश्यकता नहीं होती। वे समस्याओंका सामना करना चाहते हैं। इस प्रकारके लोग यदि स्वप्न देखते हैं तो अक्सर उन्हें भूल जाते हैं, और भूलते इतनी जल्दी हैं कि मानों स्वप्न देखते ही नहीं।

बहुधा हम लोग एक ही स्वप्न बार-बार देखते हैं। ऐसे स्वप्नोंमें जीवन-प्रणालीका स्पष्टीकरण विशेष रूपसे होता है। ये निश्चित और स्पष्ट रूपसे बतला देते हैं कि व्यक्तिका प्रभुत्वादर्श क्या है। इस प्रकारके लम्बे स्वप्नोंके विषयमें हमें यह समझना चाहिए कि स्वप्न देखनेवाला अभीतक अपने मनको तैयार नहीं कर सका है; वह अपनी समस्या और अपनी आदर्श-प्राप्तिके बीचका अन्तर पार करनेके लिए किसी आश्रयकी खोजमें है। कभी कभी स्वप्नमें एक ही चित्र अथवा कुछ शब्दमात्र होते हैं, और उससे मालूम हो जाता है कि स्वप्न देखनेवाला किस प्रकार आत्मप्रवञ्चनाका सरल मार्ग ढूंढ़ रहा है।

उपर्युक्त बातोंसे निद्राके स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है। निद्रा और जागृतिमें मात्राका ही भेद है। निद्रामें हम जीवनसे बिलकुल ही विच्छिन्न

नहीं हो जाते। इसके विपरीत उस अवस्थामें भी हम सुनते-समझते रहते हैं। जागृत जीवनकी ही प्रवृतियां प्रायः निद्राकालमें भी व्यक्त होती हैं। कैसे भी शोरगुलसे न जगानेवाली माताएँ अक्सर बच्चोंके ज़रा भी हिलने-डुलनेसे तुरन्त जग जाती हैं। इससे मालूम होता है कि वस्तुतः उनका ध्यान किस प्रकार अपने प्यारोंके प्रति जागृत रहता है। सोते समय हम चारपाईसे गिर नहीं जाते। इससे भी जान पड़ता है कि निद्रामें हम निर्दिष्ट सीमाका ध्यान रखते हैं।

९

बच्चोंके शिक्षणकी समस्या

बच्चोंकी शिक्षाके विकास से उनकी कौटुम्बिक स्थितिके अध्ययनका सबसे अधिक सम्बन्ध है, कुटुम्बमें बच्चोंके जन्मक्रमके विषयमें महत्त्वकी बात यह है कि पहला बच्चा कुछ दिनों तक एकलौते बच्चेकी स्थितिमें रहता है और पीछे उस पद से उतार दिया जाता है। इस तरह कुछ दिनोंतक असीम शक्तिका उपभोग कर लेनेके बाद उस आनन्दको खो बैठता है। इसके विपरीत दूसरे बच्चोंकी यह स्थिति स्थिर होती है।

सबसे बड़े बच्चोंकी मनःस्थितिमें आपरिवर्तनवादिताकी प्रधानता होती है। उनकी यह भावना होती है कि जो शक्तिमान् है उसे सदैव शक्तिमान् रहना चाहिये। संयोगवश ही उन्होंने अपनी शक्ति खो दी है और वे उसके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते हैं।

दूसरे बच्चे की स्थिति बिलकुल ही भिन्न होती है। आदिसे ही दौड़में उसके सन्मुख एक अग्रणी होती है जिससे उसे अग्रसर होनेकी प्रेरणा मिलती है। वह सदा उसकी बराबरी चाहता रहता है। वह प्रभुत्व स्वीकार नहीं करता वरन् उसके सत्ता-परिवर्तनका इच्छुक होता है। उसकी सभी चेष्टाओंसे यह दिखाई देता है कि उसकी दृष्टि अपने आगे स्थित एक ऐसे बिन्दु पर है जिसे वह पकड़ना चाहता है। वह सदैव विज्ञान और प्रकृतिके नियमोंको बदलनेके प्रयत्नमें रहता है। वह वास्तविक क्रान्तिकारी होता है। उसकी राजनीति तो उतनी नहीं किन्तु उसका सामाजिक जीवन और दूसरे साथियोंके प्रति उसकी भावना अवश्य क्रान्तिकारी होती है। बाइबिलकी याकूब और एसा की कहानी में इसका बड़ा अच्छा उदाहरण मिलता है।

जहाँ कई बच्चे होते हैं और सबोंके बड़े हो जाने पर कोई दूसरा बच्चा पैदा होता है तो उसकी स्थिति पहले बच्चोंके ही समान होती है।

कुटुम्बमें सबसे छोटे बच्चेकी स्थिति मनोविज्ञानकी दृष्टिसे विशेष ध्यान देने योग्य है। सबसे छोटेसे हमारा तात्पर्य उस बच्चेसे है, जिसके बाद फिर कोई दूसरा बच्चा नहीं पैदा होता। अर्थात् जो सदैव सबसे छोटा रहता है। यह बच्चा औरोंकी अपेक्षा अच्छी स्थितिमें रहता है क्योंकि वह कभी पद-भ्रष्ट नहीं होता। दूसरा बच्चा अपने प्रभुत्वसे वञ्चित हो सकता है और कभी-कभी पहले बच्चेके समान ही विपत्तिका अनुभव करता है। किन्तु सबसे छोटे बच्चेके जीवनमें यह बात नहीं होती। इस कारण उसका विकास सबसे अच्छा होता है। दूसरे बच्चेसे उसकी इस बातमें समानता है कि वह बड़ा उत्साही होता है और दूसरों पर विजय प्राप्त करनेमें प्रयत्नशील होता है। उसके सामने भी अग्रणी होते हैं जिनसे आगे जानेकी उसकी प्रवृत्ति होती है। किन्तु साधारणतः वह कुटुम्बके अन्य व्यक्तियोंसे बिलकुल ही भिन्न मार्गका अनुसरण

करता है। अगर कुटुम्ब वाले वैज्ञानिक हैं तो बहुत संभव है कि वह गायक या व्यापारी हो। और यदि कुटुम्ब व्यापारियोंका है तो वह कवि हो सकता है। उसे उनसे भिन्न होना चाहिये। क्योंकि उसी क्षेत्रमें प्रतियोगिता न करके दूसरेसे भिन्न क्षेत्रमें सफलता प्राप्त करना सरल होता है। स्पष्ट है कि इस बातसे उसमें कुछ साहसहीनताका परिचय मिलता है। क्योंकि यदि वह साहसी हो तो उसी क्षेत्रमें दूसरोंसे प्रतियोगिता करे। किन्तु इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि बच्चोंकी क्रमिक स्थितिसे हम इसी बातका अनुमान करते हैं कि उनकी प्रवृत्तियां किस ओर होंगी। ये बातें कोई पत्थरकी लकीर नहीं होतीं। अगर पहला बच्चा प्रखर बुद्धिका हुआ तो संभव है कि दूसरा बच्चा उससे जीत ही न सके और इस प्रकार उसे किसी विपत्तिका अनुभव न करना पड़े। ऐसा बच्चा समाजके अनुकूल होता है और संभव है कि उसकी माताकी सहायतासे उसकी रुचि दूसरोंके प्रति विस्तृत होकर बढ़ गई हो और नवजात बच्चे तक पहुंच गई हो। और यदि पहला बच्चा वास्तवमें विजित नहीं हो सकता तो उलटे दूसरे बच्चेकी ही स्थिति अधिक कठिन हो जाती है। इस प्रकारके दूसरे बच्चोंकी दशा सबसे अधिक बिगड़ जाती है। क्योंकि वे साहस और आशाको खो बैठते हैं। दौड़में जीतनेकी आशा नितान्त आवश्यक है और जब यह जाती रहती है तो सर्वनाश ही समझिये।

एकलौते बच्चेकी भी अपनी विशेष विपत्ति होती है। क्योंकि वह अपने बचपन भर कुटुम्बके स्नेहका केन्द्र रहा है और इसी स्थितिमें रहना उसके जीवनका आदर्श हो जाता है। उसकी बुद्धि तर्क और सत्यके मार्गका अनुसरण नहीं करती, किन्तु जीवन-प्रणालीकी ही दिशामें चलती है। लड़कियोंके कुटुम्बमें अकेले लड़केकी स्थिति भी कठिन होती है। आम तौरसे ऐसा समझा जाता है कि ऐसा लड़का लड़कियोंके समान व्यवहार करता है। किन्तु इस

मतमें अत्युक्ति है। थोड़ी बहुत कठिनाई अवश्य होती है, क्योंकि ऐसी स्थितिमें कुटुम्बका सारा प्रबन्ध स्त्रियोंके ही अनुकूल होता है। हम किसी घरमें प्रवेश करते ही जान सकते हैं कि उसमें लड़कोंकी या लड़कियोंकी संख्या अधिक है। घरका सामान ही दूसरे प्रकारका होता है। क्रमशः अधिक या कम शोरगुल होता है और सब वस्तुओंका क्रम ही दूसरा होता है। जहां अधिक लड़के होते हैं वहां अधिक चीजें टूटी-फूटी दिखाई पड़ती हैं और जिस कुटुम्बमें लड़कियां ज्यादा होती हैं वहां हर चीज़ अधिक साफ-सुथरी होती है।

ऐसे वायुमण्डलमें पला हुआ लड़का या तो अत्यधिक मात्रामें अपना पुरुषत्व प्रकट करनेका प्रयत्न करेगा जिससे उसके चरित्रमें इस अङ्गका अतिरेक हो जायगा अथवा कुटुम्बका अनुकरण करता हुआ वह भी लड़कियोंके समान हो जायगा। संक्षेपमें ऐसा लड़का या तो कोमल स्वभावका होगा या बहुत ही उद्दण्ड। पिछली स्थितिका तात्पर्य यह है कि वह निरन्तर अपने पुरुषत्वको सिद्ध करनेका प्रयत्न करेगा। कई लड़कोंके बीच पड़ी हुई लड़कियोंकी स्थिति भी ऐसी ही कठिन होती है। या तो वह बहुत ही शान्त होती है और उसका विकास बहुत ही स्त्रैण होता है या वह उन सभी कामोंको करना चाहती है जो लड़के करते हैं और उन्हींके समान विकास चाहती है। यहांपर आत्म-ग्लानिका भाव बिलकुल स्पष्ट है, क्योंकि जिस स्थितिमें लड़कोंको ही श्रेष्ठता प्राप्त है, वहां वह अकेली ही लड़की है। उसका आत्मबल इस भावमें निहित है कि वह 'केवल' एक लड़की है। इस केवल शब्दमें ही उसकी सारी आत्म-निन्दा व्यक्त होती है। इसीके परिमार्जनस्वरूप जब आत्मश्लाघाका प्रादुर्भाव होता है, तब वह लड़कोंकी तरह कपड़े पहनती है और पीछे वैसा ही काम-सम्बन्ध करना चाहती है जैसा उसकी समझमें कुछ लोग करते हैं।

अन्तमें ऐसे कुटुम्बमें बच्चे की स्थितिका उल्लेख भी आवश्यक है जहां, पहला बच्चा लड़का हो और दूसरी लड़की। वहांपर इस स्थितिमें दोनोंमें निरन्तर एक भयानक प्रतिद्वन्दिता होती रहती है। लड़कीको प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि वह तो दूसरा बच्चा है और दूसरे लड़की है। वह अपनेको योग्य बनानेका अधिक प्रयत्न करती है। और इस प्रकार दूसरे बच्चेका बहुत उत्कृष्ट उदाहरण है। वह बहुत ही उत्साही और आत्मनिर्भर होती है और बच्चा देखा करता है कि वह दौड़में किस प्रकार क्रमशः अधिकाधिक उसके निकट पहुंचती चली आ रही है। हम यह जानते ही हैं कि लड़कोंकी अपेक्षा लड़कियोंका शारीरिक और मानसिक विकास शीघ्र होता है। उदाहरणके लिये एक बारह वर्षकी लड़की उसी उम्रके लड़केसे बहुत अधिक विकसित होती है। लड़का इस बातको देखता है और उसका कोई कारण नहीं समझ सकता। इसलिये वह अपनेको हीन समझने लगता है और हताश होकर प्रयत्नका त्याग करनेकी इच्छा करने लगता है। वह आगे उन्नति नहीं करता। इसके स्थानमें वह बचावके रास्ते ढूंढ़ने लगता है। कभी कभी वह कलाके मार्गमें सान्त्वना प्राप्त करता है। अन्यथा विक्षिप्त हो जाता है अथवा दुराचारका आश्रय लेता है। वह अपनेको दौड़में आगे बढ़नेके लिये असमर्थ समझता है।

इस विकट स्थितिका इस दृष्टिकोणसे भी सुलझना कठिन है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक पुरुषार्थ कर सकता है। इस सम्बन्धमें प्रधान बात जो करने की है वह उस लड़केको यह दिखला देना है कि लड़की इसलिये आगे बढ़ी हुई मालूम पड़ती है कि वह अधिक अभ्यास करनेसे विकासके अच्छे तरीके प्राप्त कर लेती है। लड़के और लड़कीको प्रतियोगिता रहित क्षेत्रोंकी ओर लगाकर भी सङ्घर्षके भावको यथासम्भव कम किया जा सकता है।

१०

समाज-भावना, व्यवहारिक ज्ञान और आत्मग्लानि

व्यष्टिवाद और समष्टिवादका झगड़ा संसारके विचार-विमर्शमें सदासे चला आया है। यह कहा जा सकता है कि इसका यदि कोई निर्णय हुआ है तो यही कि जीवन इन दोनोंके समन्वयका नाम है। यद्यपि व्यक्तिके ही जीवनमें भिन्न-भिन्न समयों और अवस्थाओंमें इनमेंसे किसी एकका प्राधान्य होता है और होना चाहिए किन्तु इनमेंसे किसीका बिलकुल त्याग नहीं किया जा सकता। दोनोंकी अतिसे हानि होती है। हिन्दू-शास्त्रोंमें व्यक्तिके जीवनके दो भाग कर दिये गये हैं। एकमें वह प्रवृत्ति मार्गपर चलता है और दूसरेमें निवृत्ति मार्गपर। एकमें बहिर्मुख होता है तो दूसरेमें अन्तर्मुख। एकमें अभ्युदयकी साधना करता है तो दूसरेमें निःश्रेयसकी। वैशेषिक दर्शनमें इन दोनोंका ध्यान रखते हुए मनुष्यके कर्तव्यका निर्णय धर्मकी परिभाषामें किया गया है और यही परिभाषा सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। वह सूत्र है "यतोऽभ्युदय निःश्रे-

यससिद्धिः स धर्मः।" आजकल पाश्चात्य विद्वानोंमें भी इस प्रश्नपर विमर्श हो रहा है। ज्यूरिचके प्रसिद्ध चित्त-विश्लेषक डाक्टर युङ्गने भी मनुष्यमें अन्तमुंखता और बहिर्मुखताकी दो प्रवृत्तियोंको मूल-आधार-रूप बतलाया है जो चरित्रकी बुनियाद हैं। इसी प्रकार वियेनाके डाक्टर ऐडलरने विशेषकर इस बातके सम्बन्धमें खोज की है कि अन्तर्मुखताकी अतिसे और बहिर्मुखताके ऐकान्तिक त्यागसे क्या क्या हानियां होती हैं। यद्यपि इनका शास्त्र वैयक्तिक मनोविज्ञान कहलाता है किन्तु उपर्युक्त कारणोंसे सामाजिकता ही उसका आदर्श है। वे कहते हैं कि यद्यपि हमारे अध्ययनमें अबतक व्यक्तिकी जीवन-प्रणालीके विश्लेषणका ही प्रयत्न हुआ है किन्तु वह विश्लेषण सदैव सामाजिक दृष्टिकोणसे और सामाजिक प्रयोगके उद्देश्यसे किया गया है।

हिन्दूशास्त्रोंमें समाजके प्रति व्यक्तिके तीन ऋणोंका सिद्धान्त भी सर्व-सम्मत और अत्यन्त प्राचीन है। ऐडलर भी व्यक्तिके सामाजिक कर्तव्योंका विश्लेषण करते करते इन्हीं देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋणके समान ही तीन कर्तव्यों पर पहुंचे हैं। वे इनको जीवनके तीन बड़े प्रश्न या समस्याएं कहते हैं। एक सामाजिक व्यवहारकी समस्या, दूसरी जीवनोपाय या वृत्तिकी समस्या और तीसरी प्रेम तथा विवाहकी समस्या। सामाजिक व्यवहारकी समस्याके बारेमें वे कहते हैं—"सामाजिक व्यवहारने प्रश्नके अन्तर्गत दूसरोंके प्रति हमारा व्यवहार और मनुष्य-जाति तथा उसके भविष्यके प्रति हमारी मनोवृत्ति-का प्रश्न है। मनुष्यकी जीवनरक्षा और उसकी मुक्तिका इससे सम्बन्ध है क्योंकि मानव-जीवन इतना अशक्त और अपूर्ण है कि हम विना सहयोगके नहीं चल सकते।" इस व्याख्यासे स्पष्ट हो जाता है कि ऐडलरकी पहली समस्याके अन्तर्गत देवऋण और ऋषिऋण दोनोंका समावेश हो जाता है। इसी प्रकार ऐडलरकी जीविकाकी समस्यामें भी ऋषिऋणका आंशिक समावेश है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि दृष्टिभेदसे एक ही बात प्राच्य और प्राश्चात्य सिद्धान्तोंमें कही गयी हैं।

उपर्युक्त तीनों समस्याएँ समाजके प्रति कर्त्तव्यके रूपमें भी देखी जा सकती हैं और व्यक्तिगत आवश्यकताओंके रूपमें भी। व्यक्तिगत जीवनसे भी इनका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। "इन प्रश्नोंकी उत्पत्ति उस सम्बन्धसे होती है जो हमारे जीवन-मात्रमें सन्निहित है।" समाज और व्यक्तिका ऐसा घनिष्ठ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है कि व्यक्तिके बिना समाजकी सत्ता नहीं और समाजके बिना व्यक्तिकी पूर्णता नहीं। यही कारण है कि उपर्युक्त तीनों ऋण व्यक्तिमें विविध एषणाओंका रूप धारण करते हैं अर्थात् लोकैषणा, वित्तैषणा और दार-सुतैषणा। इसी निगाहसे ऐडलरने इन्हें व्यक्तिगत जीवनके तीन प्रश्न अथवा समस्याएँ कहा है।

व्यवहार-दृष्टिसे हम इसी बातको यों कह सकते हैं कि व्यक्ति दूसरोंके बिना अपनेको अपूर्ण पाता है और उसको अपनी इष्ट-सिद्धिके लिये दूसरोंमें रुचि उत्पन्न हो जाती है। इसके परिणाम स्वरूप वह अपनेको उपयोगी बनाने का निरन्तर प्रयत्न करता रहता है और दूसरोंकी दृष्टिमें गौरव तथा सम्मान प्राप्त करना चाहता है। यही महत्त्वाकांक्षा समाज-भावनाका मूल है। बचपनसे ही यह प्रवृत्ति जीवमें दिखाई देती है। इस प्रकार समाज-भावना और समाजके अनुकूल होना ही व्यक्तिकी अपूर्णताका उचित और स्वाभाविक सम्मार्जन है।

उपर्युक्त कारणोंसे समाज-भावना प्रत्येक व्यक्तिमें स्वाभाविक और अनि-वार्य है। हिन्दूशास्त्रोंके सिद्धान्तानुसार जीवमें परमात्माके स्वभावकी ही छाया पड़ती है। और 'एकाकी नारमत्' 'बहु स्याम्' इत्यादि वचनोंसे यह दिखलाया गया है कि समाज-भावना परमात्म-स्वभावमें ही नित्यरूपसे विद्यमान है अर्थात् यह भावना व्यक्तियोंके स्वभावके मूलमें ही स्थित है। इसलिए हम इससे

किसी तरह भाग नहीं सकते। ऐडलर लिखते हैं—"हम ऐसे किसी व्यक्तिको नहीं पा सकते जो सचाईके साथ यह कह सके कि 'मैं दूसरोंमें कोई दिलचस्पी नहीं रखता।' वह इस प्रकारसे आचरण कर सकता है मानो संसारमें उसे कोई रुचि नहीं है किन्तु वह इस बातको सिद्ध नहीं कर सकता। बल्कि वह दूसरोंमें दिलचस्पी लेनेका दावा करता है ताकि उसका समाजके अनुकूल न होना छिप जाय। यह समाज-भावनाके सर्व-व्यापी होनेका मूक साक्ष्य है।" इससे यह साबित होता है कि किसी व्यक्तिमें समाज-भावनाका अभाव तो हो नहीं सकता किन्तु उसका आचरण समाजके प्रतिकूल हो सकता है।

समाज और व्यक्तिकी परम्पराश्रयता अर्थात् व्यक्तिके लिए सामाजिक मार्गकी उपयोगिता और आवश्यकताको न समझनेसे ही हम प्रायः सामाजिक और उपयोगी मार्गका अवलम्बन नहीं करते। अज्ञान साहस-हीनताके भावका सहचारी है।

अब ज़रा विस्तारसे यह देखना चाहिये कि यह सामाजिक प्रतिकूलता कहाँसे पैदा होती है। ऐडलरका निर्णय है कि इसका कारण अपनी हीनताका अनुभव और साथ-साथ श्रेष्ठ होनेकी कामना है। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि ये ही दोनों समाज-भावनाके आधार हैं। ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध जान पड़ती हैं किन्तु वास्तवमें बात यह है कि यही दोनों भावनाएँ साधारण मात्रामें स्वाभाविक हैं। प्रत्येक व्यक्तिमें कुछ-न-कुछ अपनी हीनताका आभास और सफलता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करनेकी इच्छा रहती है। ये दोनों मानस जीवनके आवश्यक अङ्ग हैं। किन्तु जब इन्हीं दोनोंकी अति हो जाती है तो ये अपने प्रयोजनको सिद्ध न करके उससे ठीक उलटा परिणाम उत्पन्न करती हैं और इनका वास्तविक रूप विकृत होकर मानसिक व्याधिके रूपमें परिणत हो जाता है। अपनी उचित मात्रा और सीमाका उल्लङ्घन करने-

पर ही इन्हें आत्मग्लानि और आत्मश्लाघाका नाम मिलता है। इस अवस्थामें ये व्यक्तिके समाजके अनुकूल होनेमें बाधक होती हैं और यदि ऐसा न हो ता इन्हें मानसिक विकार कहा ही क्यों जाय ? ये विकार प्रत्येक व्यक्तिमें इसीलिए नहीं होते कि उसकी यह भावनाएँ समाजोपयोगी मार्गमें लग जाती हैं। इसका कारण सामाजिक रुचि, साहस और सामाजिक अथवा व्यावहारिक बुद्धि है। जिन व्यक्तियोंमें इन गुणोंका अभाव होता है उनका आचरण समाजके प्रतिकूल हो जाता है। संक्षेपमें साहस और सामाजिक रुचिका न होना या होना ही व्यक्तिको समाजके प्रतिकूल या अनुकूल बनाता है। कारण यह कि यद्यपि साक्षात् रूपसे अपनी हीनताका अनुभव और महत्त्वाकांक्षा ही सामाजिकताके साधक और बाधक दिखाई देते हैं किन्तु किस अवस्थामें ये साधक होते हैं और किस अवस्थामें बाधक, यह सामाजिक रुचि और साहसपर ही अवलम्बित है। उपर्युक्त दोनों विकार जन्मसे नहीं आते। वे व्यक्तिके स्वभाव और उसकी सामाजिक परिस्थितिके सङ्घर्षसे उत्पन्न हो जाते हैं। अब यह देखना है कि ऐसा किस प्रकार होता है और उन विकारोंको दूर करनेका स्वाभाविक उपाय क्या है।

इसी सम्बन्धमें यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इन व्याधियोंको दूर करनेके विषयमें मनुष्य बिलकुल स्वतन्त्र है, क्योंकि यद्यपि ऐडलर साहबने यह बात स्पष्ट नहीं की है कि सब दोषोंका मूल साहस-हीनता जन्मसे नहीं आती, किन्तु इतना अवश्य है कि यदि वह जन्मसे आती भी है तो भी उसका दूर करना सर्वथा प्रत्येक व्यक्तिके हाथमें है और प्रोत्साहनके द्वारा किसी भी व्यक्तिको साहसी बनाया जा सकता है। लोगोंका यह खयाल कि उनमें कोई विशेष योग्यता नहीं है स्वयं आत्मग्लानिका सूचक है। इसके अन्दर यह भ्रम घुसा हुआ है कि कुछ लोग जन्मसे ही प्रतिभासम्पन्न होते हैं। वस्तुतः बात

ऐसी नहीं है, क्योंकि यदि वस्तुतः सफलता पूर्ण रूपसे जन्म-प्राप्त योग्यतापर ही अवलम्बित होती तो मनोवैज्ञानिक कुछ कर ही नहीं सकता। वैयक्तिक मनोविज्ञानके सिद्धान्तानुसार "प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य कर सकता है। अगर कोई लड़का या लड़की इस सिद्धान्तके अनुसार चलनेमें निराशा प्रकट करती है और उपयोगी मार्गसे अपनी अभीष्ट-सिद्धि नहीं कर सकती तो समझना चाहिये कि वह आत्मग्लानिसे पीड़ित है।"

साहसकी कमीके कारण अपनी अपूर्णताका अनुभव बहुत तीव्र हो जाता है, जिससे व्यक्ति बिलकुल आत्मनिरत और स्वार्थमय एवं संकुचित विचारका हो जाता है। ऐसे विचारके कारण वह अपने ऊपर जो बोझ लाद लेता है या अपने लिए जो कठिनाइयाँ उत्पन्न कर लेता है, उनसे छुटकारा पानेके लिए उसे सदा उपाय खोजते रहना पड़ता है। प्रारम्भिक दशामें यह आत्मग्लानिका भाव अनुकूल परिस्थितिके कारण प्रकट नहीं हो पाता या छिपा हुआ रहता है अथवा कमसे कम छिपानेकी प्रवृत्ति देखी जाती है। अगर कोई व्यक्ति कठिन परिस्थितिमें नहीं पड़ा है तो सम्भव है कि वह बिलकुल स्थिर-चित्त दिखाई पड़े परन्तु ध्यानपूर्वक देखनेपर अगर शब्दों और सिद्धान्तोंसे नहीं तो चेष्टाओं-से अवश्य ही यह ज्ञात होता है कि वह अपनेको हीन समझता है।

लोग अपनी आत्मग्लानिको किस तरह छिपाते हैं, यह विषय भी रुचि-कर है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग यह स्वीकार करके कि वे आत्मग्लानिसे पीड़ित हैं, बड़े गौरवका अनुभव करते हैं, क्योंकि दूसरे लोग इस प्रकार अपना दोष स्वीकार नहीं कर सकते। ऐसे लोग कहते हैं कि—"मैं अपने रोगके कारणके विषयमें झूठ नहीं बोलता।" किन्तु इस कथनके साथ ही वे अपने जीवनकी किसी न किसी घटना अथवा स्थितिको अपनी दशाके लिए ज़िम्मेदार ठहराते हैं। कभी वे अपने माता-पिता और कुटुम्बकी ओर संकेत करते हैं

और कभी अपने अशिक्षित होनेकी शिकायत करते या अन्य किसी घटना, बाधा या संयोगका बहाना करते हैं।

अक्सर आत्मग्लानिका भाव आत्मश्लाघाके भावकी आड़में छिपा रहता है जो उसके सम्मार्जनका काम करता है। ऐसे व्यक्ति उद्दण्ड और दम्भी होते हैं। वास्तविक कार्योंकी अपेक्षा दिखावेपर वे अधिक ज़ोर देते हैं। ऐसे व्यक्तियोंमें प्रारम्भमें प्रायः एक प्रकारके सङ्कोचका भाव दिखाई देता है, जो पीछे उनकी सारी विफलताओंके लिये एक बहाना बन जाता है। वे कहते हैं कि "यदि हममें यह संकोचशीलता न होती तो हम क्या नहीं कर सकते थे।" 'यदि' से शुरू होने वाले वाक्योंमें प्रायः आत्मग्लानि छिपी हुई रहती है।

बहुत अधिक सतर्कता, चालाकी, अहम्मन्यता, विद्वताकी डींग, जीवनकी बड़ी समस्याओंका वहिष्कार, व्यवहारके लिये एक संकुचित क्षेत्रकी खोज जो बहुतसे सिद्धान्तों और नियमोंसे सीमित हो—ये सब बातें भी आत्मग्लानिकी द्योतक हैं। सदैव छड़ीका सहारा लेना भी यह दिखलाता है कि व्यक्तिको अपने ऊपर भरोसा नहीं। ऐसे व्यक्ति की रुचि भी विचित्र देखो जाती है। वह सदैव छोटी छोटी चीज़ोंमें लगा रहता है जैसे समाचारपत्र या विज्ञापन इकट्ठा करना। इस तरहके व्यक्ति अपना समय इसी तरह नष्ट किया करते हैं और बहाना बनाया करते हैं। वे अनुपयोगी जीवन का ही प्रायः अनुसरण करते रहते हैं। और यही अनुसरण यदि निरन्तर जारी रहा तो विक्षेप और उन्माद की दशा प्राप्त हो जाती है।

बच्चों की चरित्र सम्बन्धी जितनी समस्याएँ हैं सबमें आत्मग्लानि छिपी रहती है, जैसे आलसी होना जीवनके महत्वपूर्ण कर्तव्योंके वहिष्कारका ही दूसरा रूप है। इसी तरह चोरी करना दूसरोंकी अरक्षित दशा या अनुपस्थितिसे अनुचित लाभ उठाना है। झूठ बोलना सच बोलनेके साहसका अभाव है, इत्यादि।

एक परिवारमें ११ वर्ष की एक लड़की थी जिससे घर के लोग स्नेह नहीं रखते थे। अन्य सब लड़के इसकी अपेक्षा अधिक प्यार पाते थे। उसकी भावना हो गई कि मैं इस कुटुम्बमें अवांछित हूँ। वह चिड़चिड़ी, लड़ाकू और उद्दण्ड हो गयी। इसका कारण यही था कि वह अपने को उपेक्षित समझती थी। पहले उसने प्रयत्न किया किन्तु पीछे निराश हो गयी और एक दिन उसने चोरी करना आरम्भ कर दिया। मनोविज्ञानवेत्ता बच्चोंके चोरी करनेको अपराध की दृष्टिसे नहीं देखते, बल्कि उसे अपनेको सम्पन्न बनानेका प्रयत्न समझते हैं। सम्पन्न बननेका सवाल तभी पैदा होता है जब कोई अपनेको वंचित समझता है। इस प्रकार उस लड़कीका चोरी करना कुटुम्ब में स्नेह न पाने पर निराशाका ही परिणाम था। हम सदैव इस बातको देखेंगे कि जब बच्चे अपनेको वंचित समझते हैं तो वे चोरी करने लग जाते हैं। चाहे उनका यह वञ्चना का भाव ठीक न हो किन्तु उनके कर्मका मानसिक कारण अवश्य होता है।

मानसिक व्याधियोंमें आत्मग्लानिका बढ़ा हुआ रूप दिखाई देता है, जैसे चिन्ता-रोगग्रस्त व्यक्ति सदैव अपने साथ किसी अन्य व्यक्तिको रखनेका प्रयत्न करता है और स्वभावतः उसकी यह इच्छा पूरी हो जाती है। लोग उसके साथ व्यस्त रहते हैं। उसीको संभालते रहते हैं। यहां पर हम आत्मग्लानि और आत्मश्लाघाके बीचका परिवर्तनकाल देखते हैं। दूसरोंकी सेवा प्राप्त करके विक्षिप्त व्यक्ति महत्ताका अनुभव करता है। इसी प्रकार विक्षिप्त व्यक्ति भी अपनी कठिनाइयोंके कारण कल्पनाका आश्रय लेकर ही अपनेको बड़ा समझनेमें सफल होता है।

इन सब बातोंसे पता चलता है कि आत्मग्लानि-ग्रस्त व्यक्ति अपनी बढ़ी हुई कठिनाइयोंका मुक़ाबला न कर सकनेके कारण वास्तविकताको छोड़कर

कल्पनाका आश्रय लेता है और उसीमें अपनी सफलता समझता है। कल्पनाका आश्रय आंशिक या पूर्ण हो सकता है। आंशिक वह जहां किसी छोटी बातको व्यावहारिक औचित्यसे अधिक महत्त्व दे दिया जाता है और पूर्ण वह जहाँ वास्तविकताका ज़रा भी आधार नहीं होता। साधारण मानसिक दोष और उन्मादमें यही अन्तर है। कल्पनाका जितना ही अधिक सहारा लिया जाता है, जीवन उतना ही अधिक अनुपयोगी होता है। अनुपयोगी जीवनकी यही विशेषता है कि उसमें कल्पना और वास्तविकताका विवेक नहीं रह जाता। जैसे पहले बतलाया गया है, सामाजिक मूढ़ता साहस-हीनता की सहगामिनी है। दुराचारियोंमें यह बात अच्छी तरह दिखाई देती है। वे कायर और मूढ़-बुद्धि होते हैं। उनकी कायरता और सामाजिक मूढ़ता एक ही प्रकृतिके दो अङ्ग हैं। कल्पनासे सन्तोष करना भी सामाजिक मूढ़ताका ही परिणाम है।

मद्यपानकी भी यही मीमांसा है। मद्यप अपनी समस्याओंसे मुक्ति चाहता है और वह इतना कायर होता है कि इष्ट-सिद्धिकी कल्पनासे ही संतुष्ट हो जाता है। अर्थात् अनुपयोगी जीवनसे जो कुछ तृप्ति उसे मिलती है उससे ही उसका काम चल जाता है।

ऐसे व्यक्तियोंका सम्पूर्ण दृष्टिकोण और उनके सारे सिद्धान्त साधारण व्यक्तियोंके साहसपूर्ण दृष्टिकोण तथा उनकी सामाजिक और व्यावहारिक बुद्धिसे सर्वथा विभिन्न होते हैं। उदाहरणके लिये दुराचार-वृत्तिवाले सदा बहाने बनाते रहते हैं और दूसरोंको दोष देते रहते हैं। कभी वे मज़दूरीकी गिरी दशाका उल्लेख करते हैं, कभी समाजकी निर्दयताकी चर्चा करते हैं, क्योंकि वह उनका भरण-पोषण नहीं करता। अथवा वे कहते हैं कि पापी पेट से रक्षा नहीं। उसका शासन मानना ही पड़ता है। उसे दबाया नहीं जा सकता है—इयमुदरदरी दुरन्तपूरा यदि न भवेदभिमानभङ्गभूमिः। सजा पाने पर वे सदैव कोई

न कोई बहाना निकाल लेते हैं, जैसे बालकोंकी हत्या करने वाले हिक्मैनने कहा था कि "यह काम ऊपरकी एक आज्ञासे किया गया था।" एक दूसरे हत्यारेने सजा पाने पर कहा—"जिसे मैंने मारा है ऐसे लड़केका क्या उपयोग? ऐसे लाखों दूसरे लड़के मिलेंगे।" कुछ लोग बिलकुल ही दार्शनिक भावसे यह दावा करते हैं कि "किसी धनी बुढ़ियाको जिसके पास बहुत सा धन है मार डालनेमें कोई बुराई नहीं, जब कि इतने कामके आदमी भूखों मरते हैं।"

इस प्रकारकी युक्तियाँ हमें असङ्गत और कमजोर प्रतीत होती हैं और वास्तवमें निराधार हैं। इस प्रकारके दृष्टिकोणका कारण अनुपयोगी और असामाजिक आदर्श है। इस आदर्शके चुनावका कारण साहस-हीनता है। ऐसे व्यक्तियोंको हमेशा अपना समर्थन करते रहना पड़ता है। किन्तु उपयोगी जीवनके आदर्शके लिये इन बातोंकी कोई आवश्यकता नहीं होती। हम कभी कभी किसी १६ वर्षके युवकको स्कूलसे निकाल दिये जाते हुए और निराशाके कारण आत्महत्या कर लेते देखते हैं। आत्महत्या समाजके प्रति एक प्रकारका आक्षेप या दोषारोपण है। यह व्यावहारिक बुद्धिके बजाय निजी बुद्धिसे उस युवकका आत्मसमर्थन करनेका एक तरीक़ा है। ऐसी स्थितिमें इतना ही कहना आवश्यक है कि उस युवकको अनुपयोगी जीवनसे उपयोगी जीवनके मार्गका अनुसरण करनेके लिये प्रोत्साहन दिया जाय।

११

विवाह-प्रेम-समस्या

[१]

ऐडलरके बहुतसे सिद्धान्त प्राचीन आर्य-सभ्यताके सिद्धान्तोंसे मिलते-जुलते हैं। किन्तु विवाहके विषयमें यह बात विशेष रूपसे दिखाई देती है। इस सम्बन्धमें वैयक्तिक मनोविज्ञान बिलकुल ही उन्हीं सिद्धान्तोंका और उसी रूपमें प्रतिपादन करता है, जैसा हिन्दू-संस्कृति करती है। इससे यह ज्ञात होता है कि वर्तमानकालिक पाश्चात्य आचार कितना अपूर्ण है और प्राच्य सिद्धान्तोंसे किस प्रकार पश्चिमका निस्तार हो सकता है। प्राच्य देशवासियोंके लिये ऐडलरके सिद्धान्तोंका बड़ा भारी उपयोग है। हम लोग अपने ही प्राचीन पूर्वजोंके सिद्धान्तोंका आधार और प्रवर्त्तक-हेतु अज्ञानवश भूल गये हैं, और इस कारण उनकी महत्ता न समझकर उनकी उपेक्षा करने लगे हैं, तथा उलटे पाश्चात्य नवीन संस्कृतिके प्रति आकर्षित हो रहे हैं। हममेंसे जो लोग पुरानी लकीरके फकीर बने हुए हैं वे भी इनका वास्तविक तत्व न समझनेके कारण

उनका दुरुपयोग ही कर रहे हैं। ऐसो स्थितिमें यह विज्ञान नये सिरेसे प्राच्य सिद्धान्तोंके समर्थनमें हमारे सामने युक्तियाँ पेश करके हमें उनका वास्तविक आधार और तत्व समझा देता है।

ऐडलर कहते हैं—"विवाहका सर्वोत्कृष्ट आदर्श एक विवाह है। कुछ लोग मिथ्या वैज्ञानिक आधार लेकर यह कहते हैं कि बहु-विवाह मानव-स्वभावके अधिक अनुकूल है। यह निर्णय स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि सभ्य-समाजमें विवाह एक सामाजिक कर्तव्य है, और व्यक्तिगत लाभके लिये ही न होकर, अप्रत्यक्ष रूपसे सामाजिक लाभके लिये होता है। अन्ततोगत्वा विवाह मानव जातिकी रक्षाके लिये ही होता है।" इस कथनमें "प्रजायै गृहमेधिनाम्" के सिद्धान्तका ही निरूपण किया गया है।

ऐडलरने बहुविवाहवाद और स्वेच्छाचारका मनोवैज्ञानिक कारण भी बतलाया है। वे कहते हैं कि "बहुतसे लोग अनेक काम-सम्बन्ध स्थापित करनेमें बड़प्पन और प्रभुत्व समझते हैं। इस प्रकार अपनी काम-वासनाओंको अत्यधिक महत्त्व देनेका यही कारण है। यह एक भ्रम है, किन्तु इस भ्रममें उन्हें अपनी आत्मग्लानिके परिमार्जनमें सहायता मिलती है। किसी स्त्रीका एक साथ ही दो पुरुषोंसे अथवा किसी पुरुषका एक साथ ही दो स्त्रियोंसे प्रेम करनेका यही कारण है कि एक अर्थमें "दो युवतियाँ या दो युवक एक युवती या एक युवकसे कम होते हैं।" इस प्रकार बहुविवाह या स्वेच्छाचार आत्मग्लानि और कायरताका परिचायक और काम-वासनाकी रुग्णावस्था है। सारे काम-विकारोंकी जड़में आत्मग्लानि ही रहती है। इस व्याधिसे ग्रस्त मनुष्य कठिनाइयोंसे निकल भागनेका सरल मार्ग ढूंढ़ा करता है। कभी-कभी उसे जीवनके अन्य कर्त्तव्योंका बहिष्कार करके अपनी काम प्रवृत्तिके अतिरेकमें ही यह सरल मार्ग दिखाई पड़ता है।"

अथवा स्त्री-पुरुषमें पारस्परिक कलह और द्वेषके कारण एक दूसरेसे बदला लेनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक दूसरेके जीवनमें क्षोभ उत्पन्न करना चाहता है। ऐसा करनेका सबसे साधारण उपाय व्यभिचार और विश्वासघात है। विश्वासघातमें सदैव बदलेका भाव रहता है।

पश्चिममें विवाह-विच्छेदकी प्रथाका बड़ा जोर है। कौटुम्बिक जीवनके सारे झगड़ोंकी यही दवा समझी जाती है। हिन्दू शास्त्रोंमें यद्यपि अवस्था विशेषमें विवाह-विच्छेदकी अनुमति दी गयी है, किन्तु साधारण अवस्थामें इसे प्रोत्साहन नहीं दिया गया है। इस विषयमें ऐडलर कहते हैं—"हम यह नहीं कह सकते कि तुम्हारे कौटुम्बिक जीवनमें सहयोग नहीं है। तुम बराबर लड़ा-झगड़ा करते हो। इसलिये विवाह-विच्छेद कर लो। क्योंकि विवाह विच्छेदसे क्या लाभ ? साधारणतः विवाह-विच्छेद करनेवाले व्यक्ति फिर विवाह करना चाहते हैं। और अपनी पहलेकी ही जीवन-प्रणाली कायम रखते हैं। कभी-कभी ऐसे व्यक्ति अनेक बार विच्छेद करनेके बाद भी पुनः विवाह करते हुए देखे जाते हैं। और वे अपनी भूलोंकी पुनरावृत्ति ही करते रहते हैं।" विवाह-सम्बन्धकी अनेक भूलोंका आरम्भ बचपनमें होता है। और बचपनकी प्रकृतिको देखकर गलत जीवन-प्रणालीमें सुधार किया जा सकता है। इसलिये ऐडलर साहब परामर्शदात्री सभाओंकी स्थापनाकी सम्मति देते हैं, जो मनोविज्ञानके उपायोंसे विवाह-सम्बन्धकी गलतियोंको सुलझावें। ऐसी समितियां तात्कालिक विवाह-विच्छेदका परामर्श न देंगी, वल्कि लोग उनसे इस सम्बन्धमें सलाह लेंगे कि उनके मनोनीत विवाह या प्रेम सम्बन्धमें सफलताकी सम्भावना है या नहीं। इसी प्रकार वे विवाह-विच्छेद करनेके पहले भी उनसे परामर्श लेंगे। इन समितियोंके सदस्योंकी योग्यता यह होगी कि वे मनोवैज्ञानिक साधनोंसे निष्णात और अभ्यस्त हों, यह समझते हों कि व्यक्तिके जीवनकी

सारी बातें परस्पराश्रित हैं, साथ-साथ चलती हैं, और परामर्श चाहनेवाले व्यक्तियोंकी मंशासे सहानुभूतिपूर्ण तादात्म्यका अनुभव कर सकें। इस सम्बन्धमें डाक्टर भगवानदासका यह कथन है कि एक पुरोहित एक सभाकी अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है, यदि वह विश्वासपात्र और कर्त्तव्यपरायण हो। ऐडलरने दूसरे शब्दोंमें इन्हीं गुणोंको आवश्यक बतलाया है। यहांपर हम प्राचीन पुरोहित प्रथाकी सार्थकता देखते हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमानकालिक पुरोहित अपने पदके कितने अयोग्य और अनधिकारी हैं।

ऊपर इस बातका भी संकेत मिल चुका है कि लोग विवाह सम्बन्धके चुनावमें भी भयानक भूलें करते हैं। इससे यह जान पड़ता है कि पाश्चात्य समाजमें प्रचलित स्वयं अपना जोड़ा चुननेकी प्रणाली सर्वथा निर्दोष नहीं है। इसके विपरीत हिन्दू-संस्कृतिमें यह काम पुरोहितकी सहायतासे माता-पिताके द्वारा होता है। इस प्रथाके विरुद्ध यह कहा जाता है कि इसमें वर कन्याके पारस्परिक प्रेम और उनके मनोभावोंपर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता। यह बात एक हद तक ठीक है। किन्तु इस सम्बन्धमें बहुत अत्युक्ति की जाती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आजकलकी अधोगतिकी दशामें यह प्रथा भले ही बहुत अनिष्टकर प्रतीत होती हो, किन्तु इसके मूल सिद्धान्त ऐसे नहीं हैं। हमें दूसरे पक्षकी बुराइयोंपर भी ध्यान देना चाहिये। ऐडलर यह बतलाते हैं कि मानसिक दोषोंके कारण चुनावमें बहुतसे दोष आ जाते हैं। एक साथ ही दो व्यक्तियोंसे प्रेम करनेकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। इसी प्रकार कुछ लोग कमजोर, बीमार और वृद्ध व्यक्तियोंको चुनते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी समझमें इस प्रकारसे उनका कौटुम्बिक जीवन आसानीसे निभ जायगा। कुछ लोग विवाहित व्यक्तियोंकी ओर प्रवृत्त हो

जाते हैं। इसका कारण यह है कि वे विवाह-समस्याको कभी हल नहीं करना चाहते। आत्मग्लानिग्रस्त व्यक्ति जिस प्रकार अपनी जीविका बदलते रहते हैं, समस्याओंका सामना करनेसे मुँह मोड़ते हैं; और किसी कामको समाप्ति तक नहीं पहुंचाते, प्रेम-समस्याके उपस्थित होनेपर भी वे वैसा ही व्यवहार करते हैं। उपर्युक्त व्यवहार उनकी इसी अभ्यस्त प्रवृत्तिको सन्तुष्ट करनेकी युक्ति है। इसके अतिरिक्त और भी युक्तियां हैं, जैसे बहुत दिनों तक प्रतिज्ञा-बद्धताकी अवस्थामें बने रहना या उस प्रकारका प्रेम-प्रदर्शन ही करते रह जाना जो विवाहकी कोटि तक कभी नहीं पहुंचता। इन सभी बातोंमें प्रेम और आकुलताकी युक्तिका आश्रय लिया जाता है। लेकिन वैयक्तिक मनोविज्ञानसे यह सिद्ध हो चुका है कि इन भावोंका स्वतः कोई मूल्य नहीं। वे सदा व्यक्तिके प्रभुत्वादर्शके अनुसार होते हैं। इसलिये इन्हें किसी बातके लिये युक्ति रूपमें ग्रहण न करना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि नवीन प्रथाके पक्षकी सबसे प्रबल युक्तिका क्या मूल्य है और प्रेमके पक्षमें तथा प्राचीन प्रथाके विरुद्ध किस प्रकार अत्युक्ति की जाती है।

इसी सम्बन्धमें हमें इस युक्तिका भी मूल्य मालूम हो जाता है कि विवाहके लिये ऐसे व्यक्तिका मिलना बहुत कठिन है जो आदर्श रूपसे उपयुक्त हो। प्राचीन प्रथामें यह भी एक दोष बतलाया जाता है कि उसके अनुसार कोई न कोई विवाह कर लेना आवश्यक है, और ऐसी स्थितिमें परम्परानुकूलताका आदर्श कहां तक निभाया जा सकता है। वैयक्तिक मनो-विज्ञानके अनुसार यद्यपि विवाह-सम्बन्धमें बहुत-सी गलतियां होती हैं, और बहुतसे सम्बन्ध अवाञ्छनीय होते हैं; और उनका त्याग करना आवश्यक है, फिर भी उपयुक्त व्यक्तिका चुनाव इतना कठिन नहीं है, जितना समझा जाता है। वास्तविक प्रश्न तो यह है कि चुनाव ठीक तरीकेसे और उचित सिद्धान्तों-

के अनुसार हो, न कि यह कि किस व्यक्तिको चुना जाय। हम आदर्श व्यक्तिको पानेकी आशा नहीं कर सकते, क्योंकि यह बात अव्यावहारिक है। वास्तवमें, यदि हम देखें कि कोई अपने विवाहके लिये आदर्श व्यक्तिकी तलाशमें है, और उसे कभी पा ही नहीं रहा है, तो निश्चित रूपसे समझना चाहिये कि वह संदिग्ध मनोवृत्तिका ग्रास हो रहा है। दूसरे शब्दोंमें वह संशयात्मा है। ऐसा व्यक्ति आगे बढ़ना ही नहीं चाहता। उसमें अपनी समस्याका सामना करनेका साहस नहीं है। अर्थात् वह उसके लिये तैयार नहीं है। इसके अतिरिक्त यद्यपि सभी प्रवृत्तियां शासित और परम्परानुकूल बनायी जानी चाहियें, फिर भी आत्यन्तिक दमन खतरनाक होता है। जैसे, जो व्यक्ति भोजनके सम्बन्धमें अत्यन्त कठोर संयम रखता है, उसके मन और शरीरको हानि पहुंचती है। इसी प्रकार काम-प्रवृत्तिके सम्बन्धमें भी आत्यन्तिक संयम अवाञ्छनीय है। नित्योपवासी और नित्य ब्रह्मचारी, दोनोंकी स्थिति समान रूपसे आशङ्कामय है।

उपर्युक्त सभी बातोंमें विवाह-समस्याके सम्बन्धमें अतिरञ्जनकी प्रवृत्ति देखी जाती है। लोग जिस प्रकारसे विवाहके सम्बन्धमें सम्मति ढूंढ़ा करते हैं, उससे भी यही मालूम होता है कि आम तौरसे इसे जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न समझा जाता है। किन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। यद्यपि इसके महत्त्वको कम करना भी अभीष्ट नहीं है। वैयक्तिक मनोविज्ञानकी दृष्टिमें जीवनकी कोई एक समस्या दूसरीसे महत्तर नहीं है। और यदि कोई व्यक्ति विवाह-प्रेमके प्रश्नको सबसे अधिक महत्त्व देने लगता है, तो वह जीवनके सामञ्जस्यको खो बैठता है।

इस प्रश्नको अनुचित महत्त्व देनेका कदाचित यह कारण है कि इस सम्बन्धमें हमें कोई नियमित शिक्षा नहीं मिलती। पाश्चात्य देशोंमें आजकल

काम-शास्त्रकी शिक्षाके विषयमें बड़ा आन्दोलन हो रहा है। और इस ओर लोगोंका मत परिवर्तन जोरोंसे हो रहा है। फिर भी अभी इसका विरोध बहुत है। प्रचीन हिन्दू-संस्कृतिमें विद्याध्ययनके समाप्ति कालमें काम-शास्त्रकी शिक्षा अनिवार्य थी। दुर्भाग्यवश अब इस देशमें भी इसका सर्वथा अभाव है। इस सम्बन्धमें ऐडलर महोदय बतलाते हैं कि जीवनकी तीन बड़ी समस्याओंमेंसे दो हीकी शिक्षा हमें दी जाती है। पहली अर्थात् सामाजिक समस्याका सम्बन्ध हमारे पारस्परिक व्यवहार से है। प्रायः जन्मके पहले ही दिनसे हमें दूसरोंके साथ बरतनेकी शिक्षा मिलने लगती है। इसी प्रकार अपने-अपने पेशोंकी शिक्षा देनेके लिए अध्यापक होते हैं और बहुत सी किताबें भी यह बतलाती हैं कि हमें क्या करना चाहिए। इस प्रकार हम ऐसे कामोंके लिए तो तय्यार किये जाते हैं जो या तो अकेले एक व्यक्तिके द्वारा हो सकते हैं, या बीसों व्यक्तियोंके द्वारा किये जा सकते हैं। किन्तु वैवाहिक कर्त्तव्य दो व्यक्तियोंसे, और दो ही व्यक्तियोंसे, सम्बन्ध रखता है, जिसकी शिक्षा हमें कभी नहीं दी जाती। विवाह और प्रेमके लिए हम अपनेको किस प्रकार तैयार करें—यह बतलानेवाली पुस्तक कौन-सी है? आप कहेंगे कि प्रेम और विवाहकी कथाओंसे सारा साहित्य भरा पड़ा है। किन्तु इनमें ऐसी किताबें कितनी हैं, जो सफल विवाहके विषयका निरूपण करती हैं? वर्तमान सभ्यताका सम्बन्ध साहित्यसे बहुत घनिष्ठ है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि हर एक व्यक्तिका ध्यान विवाहकी कठिनाइयोंपर ही लगा रहता है। क्योंकि सारे साहित्यमें ऐसे ही स्त्री-पुरुषोंकी चर्चा होती है, जो प्रेम-सम्बन्धमें सदैव कठिनाइयोंमें पड़े रहते हैं। इसलिए यदि लोग विवाहके सम्बन्धमें आवश्यकतासे अधिक सतर्क और चिन्तित रहें तो कोई आश्चर्य नहीं। ऐडलर साहब बतलाते हैं कि यह तरीका मनुष्य-समाजके आरम्भसे ही रहा है। बाइबिलमें भी इस

कथाका निर्देश है कि स्त्रीसे ही हमारे दुःखोंका आरम्भ हुआ है, और तबसे बराबर स्त्री पुरुष अपने प्रेमिक-जीवनमें बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ झेलते आये हैं। इस प्रकार इस सम्बन्धमें हमारी शिक्षा प्रणाली बहुत ही कठोर है। यह एक प्रकारसे लड़के लड़कियोंको पापकी ओर प्रवृत्त करना है। ऐडलर साहबकी शिकायतसे हमें इस बातका आभास मिलता है कि यद्यपि पाश्चात्य देशोंमें कामशास्त्रका बड़ा प्राबल्य हो रहा है, फिर भी इस सम्बन्धमें जैसी शिक्षा होनी चाहिए वैसी नहीं हो रही है। यह शिक्षा सर्वाङ्गीण नहीं है। केवल काम प्रवृत्ति और उसके भौतिक रूप पर ही अधिक ध्यान दिया जा रहा है; जो उसका संकुचित अर्थ है इसके दूसरे पक्ष अर्थात् कौटुम्बिक जीवनमें दम्पतीके पारस्परिक कर्त्तव्यों पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है, जिससे यह शिक्षा अपूर्ण रह जाती है। बल्कि एक अङ्गके अतिरंजनके कारण हानिकर सिद्ध हो रही है। दूसरे अङ्गकी शिक्षाके द्वारा ही इसका परिमार्जन हो सकता है। भारतीय कामशास्त्रकी यही विशेषता है कि वह व्यापक अर्थमें काम संबंधके दोनों अंगों पर विचार करता है।

"कामस्य द्वे भार्ये रतिश्च प्रीतिश्च।"

कामवासनाके अतिरंजनसे बचनेके लिए यह आवश्यक है कि उसे किसी ऐसे उपयोगी ध्येयके साथ जोड़ दिया जाय जिसकी साधनामें हमारी सारी प्रवृत्तियाँ व्यक्त हो सकें। अगर यह ध्येय समुचित रीतिसे चुना जाय तो काम-प्रवृत्ति या अन्य कोई प्रवृत्ति अतिरंजित न होगी। यह ध्येय सामाजिकता है। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है विवाह सामाजिक लाभके लिये है। जो लोग इस बातको समझते हैं, उनके लिये यह समझना कठिन नहीं है कि उक्त ध्येयके साधनमें भी सामाजिकता सन्निहित है। अर्थात् स्वयं विवाहप्रेमकी समस्या का भी वही स्वरूप है जो सामान्य रूपसे सामाजिक समस्याका है। इस पक्षसे

यहाँ भी वही कर्त्तव्य सामने आते हैं। यह समझना भूल है कि विवाह-प्रेम एक स्वर्ग है, जिसमें सभी बातें अपनी इच्छानुसार होती हैं। इसके विपरीत आदिसे अंत तक कर्त्तव्योंका पालन करना पड़ता है जिस कार्यको सदैव अपने साथीके हितों और रुचियोंका ध्यान रख कर ही करना होता है।

इन बातों पर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि विवाह-प्रेमकी समस्याकी तैयारीके लिये सबसे पहले सामाजिक अनुकूलता और मिलनसारी आवश्यक है। इस सामान्य तैयारीके साथ-साथ काम प्रवृत्तिके लिये विशेष रूपसे बचपनसे युवावस्था तक शिक्षा होनी चाहिये जिसका ध्येय यह हो कि विवाह और कौटुम्बिक जीवनमें नियमित रूपसे इसकी संतुष्टि की जाय। विवाह-प्रेम-समस्या की विशेषता यही है कि वह विस्तारमें तो सामाजिक समस्यासे कम है, किन्तु तीव्रतामें उससे अधिक। इसमें उतने अधिक व्यक्तियोंके साथ सहानुभूतिकी आवश्यकता नहीं पड़ती, जितनी सामाजिक समस्यामें पड़ती है। किन्तु इसमें अपने साथीके प्रति उससे बहुत अधिक सहानुभूति और दूसरेके साथ अपना तादात्म्य करनेकी शक्ति विशेष रूपसे आवश्यक होती है। आजकल जो बहुत थोड़ेसे व्यक्ति ही कौटुम्बिक जीवनके लिये तैयार पाये जाते हैं इसका कारण यही है कि उन्होंने दूसरेकी आँखोंसे देखना कभी नहीं सीखा। जो बच्चा अपने ही व्यक्तित्वमें लीन रह जाता है दूसरोंमें रुचि नहीं रखता, उससे हम यह आशा नहीं कर सकते कि यौवनकालमें काम-प्रवृत्तिके परिपाकके साथ ही वह एकाएक अपना स्वभाव बदल देगा। वह विवाह और प्रेमके लिये उसी प्रकार अनुपयुक्त रहेगा, जिस प्रकार वह सामाजिक जीवनके लिये अनुपयुक्त है। सामाजिक रुचिके स्वरूप पर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि विवाह-प्रेमकी समस्या पूर्ण समानता के आधार पर ही समुचित रीतिसे हल की जा सकती है। पारस्परिक आदान-प्रदानके भावका इसके मूलमें होना ही

महत्त्वकी बात है। एक साथी दूसरेमें श्रद्धा रखता है या नहीं, इसमें कोई महत्त्व नहीं है। प्रेम स्वयं किसी बातको हल नहीं करता क्योंकि प्रेम हर प्रकारका होता है। जब उसमें बराबरीका आधार होता है, तभी वह समुचित मार्गका अनुसरण करके विवाहको सफल बनाता है। भारतीय सभ्यता पर यह एक बड़ा भारी धब्बा है कि उसमें स्त्री पुरुषकी समानताका नितान्त अभाव है। और वर्तमान स्थितिमें वास्तवमें यह बात हमारे समाजका कलंक बन रही है। किन्तु यह भी आर्य प्रथाका विकृत रूप है। प्राचीन कालमें इसका शुद्ध रूप देख पड़ता है। साथ ही यह भी न समझना चाहिये कि पाश्चात्य समाज इस बातमें बहुत आगे बढ़ा हुआ है। हम सीधे-सीधे असमानताका व्यवहार करते हैं और पश्चिममें समानताके नाम पर वही बात द्राविड़ी प्राणायामसे की जाती है। अथवा यों कहिये कि यहां असमानताकी अति है, और वहाँ समानता की। समानताका शुद्ध रूप कहीं नहीं दिखाई देता। पश्चिमकी अवस्थाके सम्बन्धमें ऐडलर साहब कहते हैं कि "स्त्रियोंका अपनेको हीन समझना इस बातका प्रमाण है कि हमारी सभ्यता इस विषयमें विफल हुई। जिसे इस बात का विश्वास न हो, वह स्त्रियोंके प्रयत्नोंको देखे। उसे मालूम पड़ेगा कि वे आमतौरसे दूसरोंको परास्त करनेमें लगी रहती हैं, और बहुधा आवश्यकतासे अधिक अभ्यास और प्रयास करती हैं। वे पुरुषोंसे अधिक स्वार्थपरायण दिखाई देती हैं। भविष्यमें स्त्रियोंको अधिक सामाजिक रुचि विकासित करने की और दूसरोंका ध्यान न रख कर सदा अपना ही हित ढूंढ़नेके विरुद्ध शिक्षा मिलनी चाहिये। किन्तु इस बातके लिये पहले इस अंध-विश्वासको उखाड़ फेंकना पड़ेगा कि पुरुषोंको स्वभावसे ही विशेष अधिकार प्राप्त है।" इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि प्राच्य और पाश्चात्य दोनों समाजोंमें व्याधिका मूल एक ही है। अर्थात् पुरुषोंकी अहम्मन्यता, जिसके स्थान-भेदसे दो परिणाम

हुए हैं। एकमें तो स्त्रियां एकदम दब गई हैं, और दूसरेमें वे क्रान्तिकारिणी हो गई हैं, और समानताकी अति के द्वारा अपनी आत्मग्लानिका परिचय दे रही हैं। समाज भावनाकी हानि दोनोंमें हुई है। पश्चिममें इसका कारण यह है कि स्त्री पुरुषके कर्त्तव्योंमें जो प्राकृतिक भेद है, उसे समानताकी झोंकमें बिलकुल ही उड़ा दिया जाता है, जो कि सामाजिक रुचिके अभावका ही एक परिणाम है। यही कारण है कि पाश्चात्य समाजमें एक अंध प्रतिस्पर्धाका प्रसार और उसके कारण शक्तिका बड़ा अपव्यय हो रहा है। जहां एक दूसरेके हितों-का विचार होगा वहाँ न तो प्राच्य समाजकी तरह एक पक्षका दमन होगा और न पाश्चात्य समाजकी तरह नैसर्गिक श्रम विभागके त्याग को ही समानता समझा जायगा। कार्योंमें विभिन्नता रहते हुए पद-मर्यादामें समानता रहना कोई परस्पर विरुद्ध बात नहीं है। बल्कि सच्ची समानताका यही रूप है। ऐडलर साहब भी इसी निर्णय पर पहुँचे हैं। 'अधिक बुद्धिमानीकी बात यह होती कि लड़कियोंको स्त्रीजनोचित और लड़कोंको पुरुषोचित वैवाहिक कर्तव्यकी शिक्षा दी जाती। किन्तु वह शिक्षा इस प्रकारकी हाती, जिससे वे पारस्परिक समानताका अनुभव करते।"

१२

विवाह-प्रेम समस्या

[२]

अब तक बहुत कुछ सामान्य सिद्धान्तोंका ही निरूपण किया गया है। यहां हम वैयक्तिक मनोविज्ञानके उस अंशकी चर्चा करना चाहते हैं, जिसमें इन सिद्धान्तोंका व्यावहारिक प्रयोग दिखाया गया है। यह अंश भारतमें विकसित नहीं हुआ है। इसीलिये प्रयोगमें मूल सिद्धान्तोंका प्रमाण नहीं मिलता। यह भी एक कारण है कि लोग इन सिद्धान्तोंको कोरा सिद्धान्तवाद ही समझ रहे हैं। ऐडलरकी खोजोंकी यही विशेषता है कि इन सिद्धान्तोंका बिगड़ी हुई परिस्थितियोंके सुधारमें प्रयोग किया जाता है। और विस्तारसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इनका अनुसरण न करनेसे विवाह सम्बन्धमें क्रमशः क्या क्या विकार उत्पन्न होते हैं, और उसके क्या क्या दुष्परिणाम होते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी मालूम हो जाता है कि उचित सिद्धान्तोंका पालन न करनेके क्या क्या कारण होते हैं, और उन्हें रोकनेके क्या क्या उपाय हैं।

ऐडलर साहबकी शिकायतसे हमें पहले भी मालूम हो चुका है कि पाश्चात्य कामशास्त्रमें केवल काम प्रवृत्ति और उसके भौतिक रूप पर ही अधिक ध्यान दिया जा रहा है, जो उसका संकुचित अर्थ है। इसके दूसरे पक्ष अर्थात् कौटुम्बिक जीवनमें दम्पतिके पारस्परिक कर्त्तव्यों पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है, जिससे यह शिक्षा अपूर्ण रह जाती है। हम पूर्ववर्ती अध्यायमें देख चुके हैं कि इस प्रकार एक अंगका अतिरंजन कितना हानिकर है। वस्तुतः दोनों अंगोंका संतुल्यन ठीक-ठीक रहना चाहिये। भारतीय कामशास्त्रकी यही विशेषता है। यह केवल रति ही नहीं, प्रीतिको भी कामकी भार्या मानता है।

प्रीति-विकार

इस दृष्टिसे, विवाह-प्रेम समस्याका भी वही स्वरूप है जो सामान्य रूपसे सामाजिक समस्याका है। यहां भी निरन्तर अपने साथीके हितों और रुचियों का ध्यान रखते हुए आदिसे अन्त तक कर्तव्योंका पालन करते रहना पड़ता है। इसलिये विवाह-प्रेमकी समस्याकी तैयारीके लिये सबसे पहिले सामाजिक अनुकूलता और मिलनसारी आवश्यक है। इसमें अपने साथीके प्रति बहुत अधिक सहानुभूति और दूसरेके साथ अपना तादात्म्य करनेकी शक्ति विशेष रूपसे आवश्यक होती है। आजकल जो बहुत थोड़ेसे व्यक्ति ही कौटुम्बिक जीवनके लिये तैयार पाये जाते हैं, इसका कारण यही है कि उन्होंने दूसरेकी आंखोंसे देखना कभी नहीं सीखा। जो बच्चा अपने ही व्यक्तित्वमें लीन रह जाता है, दूसरोंमें रुचि नहीं रखता, उससे हम यह आशा नहीं कर सकते कि यौवन कालमें काम-प्रवृत्तिके परिपाकके साथ ही वह एकाएक अपना स्वभाव बदल देगा। वह विवाह और प्रेमके लिये उसी प्रकार अनुपयुक्त रहेगा, जिस प्रकार सामाजिक जीवनके लिये अनुपयुक्त है। सामाजिक रुचिके स्वरूपपर विचार

करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि विवाह-प्रेमकी समस्या पूर्ण समानताके आधारपर ही समुचित रीतिसे हल की जा सकती है। पारस्परिक आदान-प्रदानके भावका इसके मूलमें होना ही महत्वकी बात है। एक साथी दूसरेमें श्रद्धा रखता है या नहीं, इसमें कोई महत्व नहीं है। प्रेम स्वयं किसी बातको हल नहीं करता क्योंकि प्रेम हर प्रकारका होता है। जब उसमें बराबरीका आधार होता है, तभी वह समुचित मार्गका अनुसरण करके विवाहको सफल बनाता है।

समानताके भावमें मूलतः दो ही विकार सम्भव हैं। एक आत्मग्लानि अर्थात् अपनेको दूसरेसे हीन समझना। दूसरा अहम्मन्यता अर्थात् अपनेको दूसरेसे बड़ा समझना और उसपर शासन करनेकी प्रवृत्ति। जो लोग इन व्याधियोंसे ग्रस्त होते हैं, वे विवाहको भी अपनी रुग्ण मनोवृत्तिको तृप्त करनेका ही साधन बना लेते हैं। चूंकि यह दोनों व्याधियाँ सामाजिक रुचिकी कमीसे ही उत्पन्न होती हैं, इसलिये बचपनसे ही उपयोगी जीवनका अभ्यास होना चाहिये। तभी सामाजिक रुचिका मन्दगामी विकास सिद्ध हो सकता है। इसके लिये बचपनमें ही उक्त कठिनाइयोंको पहिचान लेना आवश्यक है। और इस विज्ञानके सिद्धान्तानुसार इसी समय विकृत प्रवृत्तियोंका मूल कारण जाना भी जा सकता है। इस प्रकार यह जानना विशेष कठिन नहीं है कि अमुक व्यक्ति विवाह-सम्बन्धकी योग्यता रखता है या नहीं।

हम एक उदाहरणसे यह दिखलानेका प्रयत्न करेंगे कि लोग विवाह-सम्बन्धके लिये कितने कम तैयार रहते हैं। एक युवक एक नाचमें किसी सुन्दर युवतीके साथ नाच रहा था। इसी लड़कीके साथ उसका विवाह निश्चित हुआ था। संयोगवश उसका चश्मा गिर पड़ा, और उसे उठानेके फेरमें उसने युवतीको करीब-करीब गिरा ही दिया था। लोगोंको उसके ऐसे व्यवहारपर

बड़ा आश्चर्य्य हुआ। जब उसके एक मित्रने पूछा कि "तुम यह क्या कर रहे थे?" तब उसने जवाब दिया "मैं अपना चश्मा उससे तोड़वा नहीं सकता था।" इससे हम देख सकते हैं कि वह युवक विवाहकी योग्यता नहीं रखता था। और वस्तुतः उस लड़कीने उससे शादी नहीं की।

पीछे यही युवक एक समय एक डाक्टरके पास गया और उसने बतलाया कि मुझे उदासीनताका रोग हो गया है। जो लोग बहुत अधिक आत्मग्लानि रत होते हैं, वे अक्सर इस रोगसे पीड़ित होते हैं।

अन्य हजारों ऐसे चिह्न हैं जिनसे यह जाना जा सकता है कि अमुक व्यक्तिने विवाहकी योग्यता प्राप्त की है या नहीं। उदाहरणके लिये, प्रेमके विषयमें उस व्यक्तिपर विश्वास नहीं करना चाहिये जो निर्धारित मिलापके लिये समयपर न आकर देरमें आये। इस कार्यसे हिचक सूचित होती है। यह इस बातका चिह्न है कि जीवनकी समस्याओंके लिये व्यक्ति तैयार नहीं है। अपने दूसरे साथीको निरन्तर शिक्षा देनेकी इच्छा रखना या उसकी आलोचना करते रहना भी इस बातका चिह्न है कि व्यक्ति तैयार नहीं है। अत्यन्त भाव-प्रवण होना भी अच्छा चिह्न नहीं है, क्योंकि यह आत्मग्लानिका सूचक है। अपना कोई एक पेशा चुन लेनेमें देर करना भी शुभ लक्षण नहीं है। इसी प्रकार निराशावादी व्यक्ति भी अनुपयुक्त होता है, क्योंकि निराशावाद इस बातका परिचायक है कि व्यक्तिमें स्थितियोंका सामना करनेकी शक्ति कम है।

उपयोगी जीवनका अनुसरण करनेवाला व्यक्ति साहसी और आत्मविश्वासी होता है। वह जीवनकी समस्याओंका मुकाबला करता है और उनको हल करनेकी कोशिश करता है। वह मिलनसार होता है, उसके साथी दोस्त होते हैं और उसके पड़ोसियोंसे उसकी खूब पटती है। जिस व्यक्तिमें ये बातें न हों उसपर विवाह-सन्बन्धकी योग्यताके विषयमें विश्वास न करना चाहिये।

इसके प्रतिकूल जो व्यक्ति किसी न किसी पेशेमें लगा हो और अपने पेशेमें तरक्की कर रहा हो, प्रायः वह विवाहकी योग्यता रखता है। ऐसी छोटी-छोटी बातोंसे व्यक्तिकी सामाजिक रुचिका पता चलता है।

जर्मनीके देहातोंमें इस बातकी परीक्षाके लिए कि वर और कन्या विवाहके लिये योग्य हो चुके हैं या नहीं, एक प्राचीन रीति है। वर और कन्याको दो मूठोंका एक आरा दे दिया जाता है। दोनों उसकी एक-एक मूठ पकड़कर किसी पेड़के कुन्देको चीरते हैं और सम्बन्धी लोग चारों तरफ खड़े होकर यह कृत्य देखते। इस प्रकार पेड़को चीरना दो व्यक्तियोंका काम है। प्रत्येकको एक दूसरेके काममें स्वारस्य रखना पड़ता है और अपनी प्रत्येक गतिको दूसरेके अनुकूल बनाना पड़ता है। यही कारण है कि यह तरीका विवाहकी योग्यताकी एक बड़ी अच्छी पहचान समझा जाता है।

हमारे देशकी विवाह पद्धतिमें भी ऐसी बहुत-सी रीतियां हैं, जिनसे दोनों पक्षोंको एक दूसरेमें स्वारस्य उत्पन्न करनेकी शिक्षा मिलती है, जैसे वरका कन्याको साथ लेकर भांवरें देना, उसके साथ किसी न किसी प्रकारका हार-जीतका खेल खेलना इत्यादि।

इन बातोंका बाह्य रूप प्रान्त भेदसे भिन्न-भिन्न होते हुए भी उनका मनोवैज्ञानिक आधार एक ही है। किन्तु आजकल इस देशमें इन क्रियाओंका तात्पर्य न समझा जानेके कारण ये मृत-प्राय हो गई हैं।

वैवाहिक स्थितिमें अपने साथीमें दिलचस्पी और उसकी आंखसे देख सकनेकी शक्ति अपेक्षित है। यदि पुरुष या स्त्रीकी इच्छा विवाह करके विजयी बननेकी हो, तो इसका परिणाम घातक होगा। विवाहसे ऐसी आशा करना उसकी ठीक तैयारी नहीं है। जिस स्थितिमें विजेताके लिये स्थान ही नहीं, वहां विजयकी सम्भावना नहीं हो सकती। अब हमें इसी दृष्टिसे इस बातका

अध्ययन करना है कि विवाहके लिये क्या विशेष तैयारी आवश्यक है। जैसा कि हम बतला चुके हैं, काम-प्रवृत्तिको सामाजिक भावनाका अनुगामी बनाना चाहिये।

बच्चे अपने माता-पिताको ही आदर्श बनाते हैं। लड़केके लिये माता ही स्त्रीत्वका आदर्श होती है। वह विवाहके लिये उसी प्रकारकी स्त्री चाहता है। किन्तु यदि लड़के और माताके सम्बन्धमें कोई कटुता हो तो प्रायः वह उससे ठीक विपरीत प्रकृतिकी लड़कीसे विवाह करना चाहेगा। बच्चे और उसकी माताके सम्बन्धकी उसके विवाह सम्बन्धमें यहां तक छाया पड़ती है कि हम विवाहित स्त्रीकी आँख, शरीर, बाल, रङ्ग इत्यादि छोटी-छोटी बातों तकमें इसका आभास पाते हैं। अवश्य ही यह बात पाश्चात्य समाजपर अधिक लागू होती है। क्योंकि प्राच्य प्रणालीके अनुसार प्रायः लड़का स्वयं विवाह निश्चित नहीं करता।

यह भी देखा गया है कि यदि माता अधिक प्रभुत्वशालिनी होती है और लड़केका दमन करती है, तो विवाहका समय आनेपर लड़का साहसका परिचय नहीं देता, क्योंकि ऐसी स्थितिमें उसका आदर्श ऐसी लड़की होगी जो कमजोर और आज्ञाकारिणी हो। और यदि वह लड़ाकू स्वभावका हुआ, तो अपनी पत्नीसे झगड़ता रहेगा तथा उसपर शासन करना चाहेगा।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि बचपनके सभी संकेत विवाह-समस्या के उपस्थित होने पर तीव्र रूप धारण कर लेते हैं। अब आत्मग्लानिग्रस्त व्यक्ति को लीजिये। वह अपनी दुर्बलता और तुच्छताकी भावनाके कारण सदैव दूसरोंका आश्रय चाहता रहेगा। इसलिये उसका आदर्श कोई ऐसा ही व्यक्ति होगा जिसमें मातृत्वका भाव हो, या कभी-कभी अपनी इस आत्मग्लानिके परि-मार्जन स्वरूप वह इससे ठीक उलटा रास्ता पकड़ सकता है। वह विवाह

सम्बन्धमें भी झगड़ालू, उद्दण्ड और अभिमानी हो सकता है। यदि वह बहुत साहसी नहीं है, तो उसके चुनावका क्षेत्र भी संकुचित होगा। शायद वह किसी झगड़ालू लड़कीको पसन्द करे, क्योंकि लड़ाई जितनी ही कठिन हो उसकी जीतमें उतना ही गौरव है। इस प्रकारके व्यवहारसे स्त्री पुरुष कोई भी सफल नहीं हो सकता। विवाह-सम्बन्धका आत्मग्लानि या अहंमन्यताके तर्पणमें दुरुपयोग करनेका विचार ही हास्यास्पद है। फिर भी बहुधा यही होता है। यदि हम ध्यान से देखेंगे तो अधिकतर लोग जो चुनाव करते हैं वह उनका बलिदान ही होता है। ऐसे लोग इस बातको नहीं समझते कि विवाह-सम्बन्धसे यह अनुचित लाभ उठाया ही नहीं जा सकता, क्योंकि यदि एक विजेता होना चाहता है, तो दूसरा विजेता होना चाहेगा। इसका परिणाम यह होता है कि एक साथ रहना असम्भव हो जाता है। यह दूसरी बात है कि बहुत दिनोंके दमनके कारण भारतीय स्त्रियां इस स्थितिको भी सहन कर लें और ऊपरसे देखनेमें आत्यान्तिक स्थिति उत्पन्न न हो।

दुलारे बच्चे विवाह-सम्बन्धमें भी अपनी प्रकृतिके अनुरूप ही बरतते हैं। वे अपने सहचर या सहचरीसे भी लाड़ प्यार पानेकी इच्छा रखते हैं। प्रेम-प्रदर्शनकी पहली अवस्थाओंमें यह बात बिना आपत्तिके रह सकती है। किन्तु पीछे इससे बड़ी विकट स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कल्पना कीजिये कि यदि दो ऐसे दुलारे बच्चे विवाह कर लें, तो क्या दशा होगी। दोनों दुलार पाना चाहते हैं और देना कोई नहीं चाहता। मानों दोनों एक दूसरेके सम्मुख खड़े होकर किसी वस्तुकी आशा लगाए हुए हैं और दोनोंमेंसे कोई उसे पूरा नहीं करता। दोनोंके हृदयमें यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि वे उपेक्षित हैं।

जब कोई व्यक्ति अपनेको उपेक्षित समझता है और अपने प्रयत्नोंको अवरुद्ध पाता है, तब वह आत्मग्लानिसे पीड़ित हो जाता है, और कठिनाईसे

भागनेका रास्ता ढूंढ़ने लगता है। जहां तक विवाहका सम्बन्ध है, ऐसे भाव विशेषकर अनिष्टकर हैं। ऐसी स्थितिमें बदलेकी भावनाका संचार होने लगता है, जिसका परिणाम हम देख ही चुके है।

एक दुलारी हुई स्त्रीका उदाहरण लीजिये। उसने एक ऐसे पुरुषसे विवाह किया जो अपनेको अपने भाईसे सदैव अवरुद्ध पाता था। यह पुरुष इस इकलौती लड़कीकी नम्रता और कोमलतासे आकर्षित होगया। उधर वह लड़की सदैव यही आशा करती थी कि मुझे औरोंकी अपेक्षा अधिक आदर मिले। इस दम्पत्तिका वैवाहिक जीवन पहले बहुत सुखमय रहा। किन्तु जब एक बच्चा पैदा हुआ तब पत्नीको यह भय होने लगा कि बच्चा मेरा स्थान छीन लेगा। और चूंकि वह स्वयं स्नेहका एकाधिपत्य चाहती थी, इसलिये वह बच्चेको जन्म देकर बहुत सुखी नहीं हुई। दूसरी ओर पति भी अपनेको ही सम्मानित देखना चाहता था। उसे भी डर था कि बच्चा मेरा स्थान ले लेगा। परिणाम यह हुआ कि दोनोंकी वृत्ति सन्देहयुक्त हो गई। स्यात् उन्होंने बच्चे की उपेक्षा नहीं की और अपना पैत्रिक कर्त्तव्य बड़ी अच्छी तरह पालन करते रहे, किन्तु वे निरन्तर यह आशंका किया करते थे कि हमारा पारस्परिक प्रेम घट जायगा। ऐसा सन्देह भयानक होता है, क्योंकि आत्मग्लानि और उसका परिणाम परस्पर सहायक होते हैं। यदि एक व्यक्ति दूसरेके प्रत्येक शब्द, प्रत्येक कार्य तथा प्रत्येक चेष्टाकी छानबीन करता रहे तो प्रेमकी कमीका प्रमाण पाना या कमसे कम ऐसा भ्रम होना बहुत ही सहज है। इस उदाहरणमें भी दोनोंको यह प्रमाण मिल ही गया। संयोगवश पति छुट्टी मनानेके लिये 'पेरिस' चला गया। इधर पत्नी प्रसवकी क्षति पूर्ति और बच्चेकी देखभाल करती रही। पति पेरिससे सुखसूचक पत्रोंमें यह लिखा करता था कि उसका समय कैसे आनन्दसे बीत रहा है और वह किस प्रकार तरह तरहके लोगोंसे

मिल रहा है—इत्यादि। इससे पत्नी अपनेको विस्मृत समझने लगी। वह पहलेकी तरह सुखी न रह कर बहुत उदास रहने लगी। थोड़े ही समयमें उसको एक मानसिक व्याधिने आ घेरा। वह अब अकेले बाहर नहीं जा सकती थी, क्योंकि उसे लोगोंसे मिलने जुलनेमें भय लगता था। ऊपरसे देखनेसे ऐसा प्रतीत होता था कि उसने अपना ध्येय प्राप्त कर लिया—अर्थात् वह फिर स्नेहका केन्द्र बन गई। क्योंकि जब उसका पति बाहरसे आया तो उसे सदैव अपनी पत्नीके साथ रहना पड़ता था। फिर भी यह तृप्ति सम्यक् नहीं थी, क्योंकि उसमें यह भावना काम कर रही थी कि यदि उसकी व्याधि दूर हो जाय तो उसका पति भी चला जायगा। इस अन्तःप्रेरणासे उसकी व्याधि बनी ही रही।

इस बीमारीमें एक डाक्टर उस पर बहुत ध्यान रखता था। जबतक वह उसकी देखरेखमें रही तबतक उसका जी बहुत अच्छा रहा। उसके चित्तमें मैत्रीकी जितनी भावना थी सब उसी डाक्टरमें लग रही थी। लेकिन जब डाक्टरने देखा कि रोगिणी अच्छी हो रही है तो उसने दवा करना छोड़ दिया उस स्त्रीने उसे एक सुन्दर पत्र लिखा जिसमें डाक्टरने जो उसके प्रति उपकार किया था उसके लिये धन्यवाद दिया। किन्तु डाक्टरने उसका उत्तर न दिया। इस समयसे उसकी बीमारी फिर बिगड़ने लगी। इसी समय अपने पतिके विरुद्ध प्रतिकार-भावनासे प्रेरित होकर वह दूसरे पुरुषोंके साथ अपने अनुचित सम्बन्धके विचार और कल्पनाएँ करने लगी किन्तु वह अपनी व्याधिके द्वारा सुरक्षित रही, क्योंकि वह अकेले बाहर नहीं जा सकती थी। उसके पतिको निरन्तर उसके साथ रहना पड़ता था। वह विश्वासघातमें समर्थ न हो सकी।

इसी प्रकार कितनी ही भूलें हैं जो बचपनमें ही आरम्भ होती है किन्तु विवाहके समय तक उनमें कोई महत्त्व नहीं दिखाई देता। जैसे कुछ लोग हर

बातमें यही सोचा करते हैं कि हमें निराश होना पड़ेगा। बहुतसे बच्चे कभी सुखी नहीं रहते और निरन्तर निराशाका ही डर उन्हें लगा रहता है। ये बच्चे या तो यह समझते हैं कि हम स्नेहसे वंचित किये जा रहे हैं, और दूसरा व्यक्ति स्नेह-पात्र बनाया जा रहा है; या किसी पुराने कटु अनुभवके संस्कारवश उन्हें वृथा ही यह भय लगा रहता है कि कहीं उस विपत्तिकी पुनरावृत्ति न हो। स्पष्ट है कि यह निराशाका भय वैवाहिक जीवनमें ईर्षा और सन्देहका मूल बन जाता है। स्त्रियोंके सम्बन्धमें एक विशेष कठिनाई यह है कि वे अपनेको पुरुषोंका खिलौनामात्र समझती हैं और उनकी धारणा होती है कि पुरुष सदैव विश्वासघाती होते हैं। यह समझना कठिन नहीं है कि इस भावके रहते हुए वैवाहिक जीवन सुखमय नहीं हो सकता। जब एक पक्षकी यह दृढ़ भावना है कि दूसरे पक्षसे विश्वासघातकी आशंका करनी चाहिये, तो सुखी जीवन असम्भव है।

रति-विकार

अब हमें संकुचित अर्थमें भी काम-प्रवृत्तिपर विचार कर लेना चाहिये। कामके प्रीति-अंशके सम्बन्धमें हमने देखा था कि लोग उसके लिये कितने कम तैयार रहते हैं। कामके रति-अंश पर तो यह बात और भी अधिक लागू होती है, जिसके कारण नाना प्रकारके प्रचलित रति-विकार देखे जाते हैं। इन विकारोंका कारण और इनके शमनका उपाय जानना आवश्यक है। इस क्षेत्रमें जो बहुत सी अन्ध परम्पराएँ हैं वे दूर होनी चाहिए।

पहला अन्ध विश्वास यह है कि भिन्न-भिन्न मनुष्योंमें जन्मसेही काम-प्रवृत्तिकी भिन्न-भिन्न मात्राएँ होती हैं और उनमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता। वैयक्तिक मनोविज्ञानको जाननेवाले इस बातसे अपरिचित नहीं हैं कि

नियतिवाद और जन्मवादका किस प्रकार बहाने बनानेके लिए दुरुपयोग किया जाता है, जिससे ये उन्नतिमें बाधक होते हैं। जन्मके सिद्धान्तको माननेवाले प्रायः केवल परिणामोंको देखते हैं। वे इस बातका कोई विचार नहीं करते कि इन प्रवृत्तियोंका कहां तक निरोध सम्भव है, इनको कहां तक कृत्रिम उत्तेजना मिलती है, और इन उत्तेजनाओंका उन परिणामोंको उत्पन्न करनेमें कितना हाथ है।

आधुनिक मनोविज्ञानमें सबसे विचित्र बात जो मालूम हुई है, वह यह है कि बचपनसे ही, बल्कि जन्मके बादसे ही, बच्चेमें कुछ काम सम्बन्धी चेष्टाएँ और उत्तेजनाएँ देखी जाती हैं। किन्तु यह काम-प्रदर्शन बहुत कुछ परिस्थितियोंपर अवलम्बित है। माता पिताको चाहिये कि जब बच्चेमें ऐसी चेष्टाएँ दिखाई पड़ें तो उन्हें किसी न किसी तरीकेसे इनसे विरत कर दें— अर्थात् उनका ध्यान उधरसे हटा दें। ध्यान हटानेके साधन भी ठीक होने चाहिए। बहुधा ऐसे तरीके बर्ते जाते हैं जिनसे ठीक तरहकी विरति नहीं होती। और कभी कभी ऐसा भी होता है कि उपयुक्त उपाय अप्राप्य होते हैं।

अगर बच्चा प्रारम्भिक अवस्थाओंमें ही अपने लिये उपयुक्त कार्य नहीं पा जाता तो स्वभावतः कामुक चेष्टाओंकी ओर उसकी प्रवृत्ति अधिक होगी। किन्तु यदि जल्दी ही इस बात पर ध्यान दिया जाय तो बच्चेकी उपयुक्त शिक्षा असम्भव नहीं है।

आमतौरसे बचपनमें थोड़ा सा काम प्रदर्शन बिलकुल साधारण बात है। उससे हमें भयभीत न होना चाहिये। अन्ततोगत्वा स्त्रीकी प्रवृत्ति पुरुषसे और पुरुषकी प्रवृत्ति स्त्रीसे मिलनेकी होती है। इसलिए हमारा कर्तव्य केवल ध्यानपूर्वक प्रतिदिन प्रतीक्षा करना है। केवल इतना देखते रहना आवश्यक है कि कामकी अभिव्यक्ति अनुचित दिशामें तो विकसित नहीं हो रही है।

इसी प्रकार बहुतसी अपूर्णताओं और दोषोंको भी जन्मगत बतलाया जाता है जो वास्तवमें अपने ही अभ्याससे उत्पन्न हुए हैं। इस अभ्यासको भी जन्मप्राप्त समझा जाता है। जैसे यदि कोई लड़की या लड़का अपनेसे विपरीत जातिके बजाय अपनी ही जातिमें अधिक आकर्षण पाता है तो इसे लोग जन्मगत दोष समझते हैं किन्तु बात ऐसी नहीं है। वैयक्तिक मनोविज्ञानके द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि स्वप्नमें मनुष्य वास्तविक जीवनकी तैयारी करता है। और यदि बच्चेके ये विचार जन्मप्राप्त होते, तो वह इनकी आवृत्ति क्यों करता, इनके स्वप्न क्यों देखता।

एस विज्ञानकी दृष्टिसे इन सारे विकारोंका कारण दो ही बातोंमें आ जाता है। कुछ लोग असफलताकी सम्भावनासे डरते हैं। उन्हें आत्मग्लानिसे ग्रस्त समझना चाहिए। ऐसे लोग अच्छे बुरे सब प्रकारके प्रयत्नका त्याग ही कर देते हैं अथवा इतना अधिक प्रयास करते हैं कि इसके परिणाम स्वरूप उनमें अहंमन्यता उत्पन्न हो जाती है। ऐसे लोगोंमें कामुकताका अतिरेक दिखाई देता है।

अन्तिम प्रकारकी अतिरञ्जनकी प्रवृत्तिको परिस्थिति और वायुमण्डलसे विशेष रूपसे उत्तेजना मिलती है। हम अच्छी तरह जानते हैं कि अनेक प्रकारके सामाजिक सम्पर्क इस इच्छाके अतिरञ्जनमें सहायक होते हैं। आजकल हर तरफ ऐसी ही चीजें दिखाई देती हैं जो अत्यधिक कामरुचि उत्पन्न करती हैं। कामैषणाकी महत्ता स्वीकार करते हुए भी यह कहा जा सकता है कि आधुनिक समाजमें इसकी अति हो रही है।

काम-प्रवृत्तिके अतिरेकसे ही बच्चोंको बचानेका ध्यान माता-पिताको सबसे अधिक होना चाहिए। इसका प्रधान उपाय यह है कि इस प्रवृत्तिको अत्यधिक महत्त्व न दिया जाय। माता-पिता अपनी शुभ चिन्ताके आवेशमें बच्चोंको

इससे विरत रखनेका बहुत अधिक प्रयास करने लगते हैं। जैसे प्रायः मातायें बच्चोंकी प्राथमिक काम-चेष्टाओंपर बहुत अधिक दृष्टि रखती हैं, जिससे बच्चा उनको अधिक महत्त्व देने लगता है। कदाचित माता इनसे भयभीत होकर निरन्तर बच्चेमें व्यस्त रहती है; और इससे इन्हींके सम्बन्धमें बातें किया करती है। हम जानते ही हैं कि बहुतसे बच्चे आकर्षणका केन्द्र बनना चाहते हैं और यही चाहते हैं कि उनपर खूब ध्यान दिया जाय। इसलिए बहुधा ऐसा होता है कि बच्चा अपनी आदतोंसे केवल इसी कारण बाज नहीं आता कि वह उनके लिये डाँट-फटकार पाता है। अतः इस बातको बहुत अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। इस विषयमें दूसरी साधारण कठिनाइयोंके समान ही बर्तना चाहिए। अगर हम बच्चोंको यह न दिखलावें कि हम इन मामलोंसे प्रभावित हुए हैं, तो हमारे लिए बड़ी आसानी हो जाय। कभी कभी बच्चा ऐसी परम्परामें पलता है जो उसे एक विशेष दिशामें प्रवृत्ति कर देती है। मातायें अक्सर बच्चोंके प्रति प्रेम भाव रखकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जातीं, बल्कि चुम्बन-आलिंगन आदिसे इस भावका प्रदर्शन भी करती हैं। यद्यपि उनका यह कथन है कि ऐसा करनेसे अपनेको रोकना असम्भव है, फिर भी इन बातोंकी अति न होनी चाहिए। ये कार्य बच्चेके प्रति प्रेमके उदाहरण नहीं हैं बल्कि यह उसके साथ दुश्मनी करना है। दुलारसे बिगड़े हुए बच्चेका काम-विकास उचित रीतिसे नहीं होता।

यह बतलाया जा चुका है कि आत्म-ग्लानि-ग्रस्त व्यक्तिके चित्तको अपनी कठिनाइयोंसे निकल भागनेके लिए सरल मार्गकी खोज रहती है, और कभी कभी यह मार्ग उसे जीवनकी अधिकांश समस्याओंका त्याग करके अपनी काम-प्रवृत्तिके अतिरञ्जनमें ही दिखाई देता है। यह प्रवृत्ति उन बच्चों में बहुधा देखी जाती है जो दूसरोंको अपनेमें व्यस्त रखना चाहते हैं और

ध्यानका केन्द्र बने रहना चाहते हैं। वे अपने अनुपयोगी प्रयत्नोंसे तरह तरह की कठिनाइयाँ पैदा करके अपने माता-पिता और अध्यापकोंको अपनेमें ही लगाये रहते हैं। अपने भावी जीवनमें वे अपनी प्रवृत्तियोंमें दूसरोंको फंसाये रखकर महत्ता प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसे बच्चे अपनी काम-प्रवृत्ति और विषय-वासना अथवा महात्त्वाकाँक्षाको अभिन्न समझ लेते हैं। यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि ऐसे मनुष्योंमें प्रायः अतिरञ्जित काम-वासना पायी जाती है, जो रति-विकारोंमें ग्रस्त होते हैं। क्योंकि ऐसे लोग जीवनकी समस्याओंके त्यागके सिलसिलेमें कभी कभी अपनी विपरीत जातिका भी सम्पूर्ण त्याग कर देते हैं और स्वजाति-रत हो जाते हैं। वास्तवमें वे अपनी विकृत प्रवृत्तिको इसीलिए अतिरञ्जित करते हैं कि उन्हें प्रकृत कामसमस्याका सामना न करना पड़े।

वे प्रकृत-कामसे क्यों भागते हैं, यह बात उनकी जीवन-प्रणालीके अध्ययनसे ही ज्ञात हो सकती है। ये लोग आकर्षणके केन्द्र तो बनना चाहते हैं, किन्तु अपनेको पर्याप्त रूपसे दूसरी जातिके आकर्षणके योग्य नहीं समझते। अर्थात् दूसरी जातिके सम्बन्धमें उनके अन्दर आत्म-ग्लानिका भाव रहता है, जिसकी जड़ बचपनमें मिलती है। जैसे, यदि बच्चा यह देखता है कि कुटुम्ब की लड़कियों और उसकी माताका व्यवहार उसकी अपेक्षा अधिक आकर्षक है, तो उसकी यह धारणा हो जाती है कि वह स्त्रियोंको कभी आकर्षित न कर सकेगा। उसके दिलमें दूसरी जातिके प्रति इतनी अधिक प्रशंसाका भाव हो सकता है कि वह उनकी नकल करना आरम्भ कर दे। यही कारण है कि बहुतसे पुरुष स्त्रियोंके समान और बहुत सी स्त्रियां पुरुषोंकी तरह दिखाई पड़ती हैं।

एक पुरुष जिसपर बच्चोंको सतानेका दोष लगाया जाता था, उपर्युक्त प्रवृत्तियोंका बड़ा अच्छा उदाहरण है। उसके विकासका अध्ययन करनेसे ज्ञात

हुआ कि उसकी मांका शासन बहुत कठोर था। फिर भी वह स्कूलमें एक अच्छा और बुद्धिमान् विद्यार्थी रहा। किन्तु उसकी मां उसकी सफलतासे सन्तुष्ट नहीं थी। इस कारण उसकी प्रवृत्ति मांको अपने कुटुम्ब-स्नेहके क्षेत्रसे पृथक् कर देनेकी थी। वह उसमें स्वारस्य नहीं रखता था। और उसका स्नेह पितामें लग गया था। वह पितासे हिलमिल गया था और उससे बहुत प्रेम करता था।

हम देख सकते हैं कि ऐसे लड़कोंकी यह धारणा किस प्रकार हो जाती है कि स्त्रियां बड़ी कठोर होती हैं, और उनके साथ सम्पर्क प्रसन्नतापूर्वक नहीं बल्कि अत्यन्त आवश्यकताकी दशामें ही रक्खा जा सकता है। इस प्रकार उस पुरुषने दूसरी जातिको अपने चित्तसे बहिष्कृत कर दिया था। इसके अतिरिक्त वह उस प्रकृतिके व्यक्तियोंमें था, जिनको भयके साथ सदैव कामोद्रेक हो जाया करता है। इस आशंकासे ऐसे लोग सदैव इस बातका ध्यान रखते हैं कि वे कहीं भयकी स्थितिमें न पड़ जायँ। भावी जीवनमें इन्हीं लोगोंकी रुचि बिलकुल उल्टी हो सकती है। वे अपनेको दण्ड या कष्ट देना अथवा किसी बच्चेको कष्ट पाते देखना पसन्द करते हैं। अथवा अपने या दूसरेके कष्टकी कल्पनायें तक किया करते हैं। क्योंकि इस प्रकारके काल्पनिक कष्टमें उनकी कामप्रवृत्तिका उद्रेक और दोष होता है।

उक्त पुरुषके विवरणसे गलत शिक्षाकी सूचना मिलती है। उसने अपने अभ्यासोंका पारस्परिक सम्बन्ध कभी नहीं समझा। या अगर समझा भी तो बहुत देरमें। किसी व्यक्तिको ठीक रास्ते पर लगानेकी शिक्षाका आरम्भ २५ या ३० वर्षकी उम्रमें करना बड़ा कठिन है। इसके लिये उपयुक्त समय बचपन ही है।

बचपनकी स्थिति बच्चे और माता-पिताके मानसिक सम्बन्धोंके कारण अक्सर विकट हो जाती है। उनके मानसिक संघर्षके सिलसिलेमें काम सम्बन्धी

कुशिक्षाका आरम्भ हो जाता है। कोई झगड़ालू लड़का, विशेषकर किशोरावस्थामें, काम प्रवृत्तिका दुरुपयोग जानबूझ कर माता पिताको कष्ट देनेके विचार से कर सकता है। अक्सर लड़के या लड़कियाँ माता-पितासे झगड़ा होनेके बाद तुरन्त ही व्यभिचारमें प्रवृत्त होते हुए देखे गये हैं। बच्चे माता पितासे बदला लेनेका यह उपाय उस अवस्थामें ग्रहण करते हैं जब वे देखते हैं कि उनके माता-पिता इस विषयमें भाव-प्रवण हैं। इन कुनीतियोंसे बचनेका यही उपाय है कि प्रत्येक बच्चा स्वयं अपने लिये जिम्मेदार बनाया जाय ताकि वह समझ ले कि इससे माता पिताके ही हितों पर नहीं बल्कि उसके भी हितों पर आघात होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माता-पिताके अत्यन्त कठोर अथवा अत्यन्त मृदु होनेसे ही बच्चोंमें सभी प्रकारके अस्वाभाविक काम विकार उत्पन्न होते हैं। बच्चे बहुत दुलारसे भी बिगड़ते हैं, और बहुत कठोरतासे भी। पहली अवस्था लड़कोंकी स्त्रैणता और लड़कियोंकी स्त्रैणताका कारण है। दूसरी अवस्था दोनोंके व्यभिचारी और स्वजाति-रत होनेका कारण है।

बचपनकी परिस्थितिकी छाया तो जीवन-प्रणाली पर पड़ती ही है, इसके अतिरिक्त काम प्रवृत्ति पर राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओंका भी प्रभाव पड़ता है। इन अवस्थाओंके कारण एक ऐसी सामाजिक रीति चल पड़ी है जो बहुत संक्रामक होती है। रूस और जापानकी लड़ाई और रूसकी पहली क्रान्तिका अन्त हो जानेके बाद,जब कि सब लोग आशा और विश्वास खो बैठे थे उस समय कामुकताका एक बड़ा भारी आन्दोलन चल पड़ा था और समस्त युवा और किशोर व्यक्ति इसमें फंस गये थे। क्रान्तियोंके समयमें भी कामुकताका ऐसा ही अतिरेक पाया जाता है। और युद्धकालमें तो प्रसिद्ध ही है कि काम-सेवनकी प्रवृत्ति बहुत बढ़ जाती है क्योंकि जीवन निस्सार जान पड़ता है।

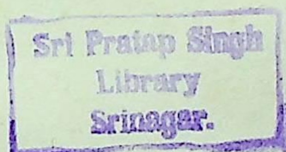
मानसिक शान्तिके रूपमें कामैषणाके इस उपयोगसे पाश्चात्य देशोंके पुलिसवाले खूब परिचित होते हैं। यूरोपमें जब कोई जुर्म होता है तो आमतौरसे पुलिसवाले अपराधीको वेश्यालयोंमें ढूढ़ते हैं। अपराधी वहां इसलिये पाया जाता है कि अपराध करनेके बाद वह अपनेको भारग्रस्त अनुभव करता है और इस मानसिक ऐंठन और व्यग्रतासे छुटकारा चाहता है। वह अपनेको अपनी शक्तिका विश्वास दिलाना चाहता है और सिद्ध करना चाहता है कि अब भी वह एक शक्तिमान् व्यक्ति है, न कि ऐसा व्यक्ति जिसका सर्वनाश हो गया है। वैयक्तिक मनोविज्ञानके अनुसार अपराध-वृत्तिका कारण कायरता और निराशा ही है।

अक्सर लोगोंको यह सलाह दी जाती है कि अपनी काम-प्रवृत्तिको अधिक चरितार्थ करें और लोग इस सलाहपर चलते भी हैं। किन्तु इसके परिणामस्वरूप उनकी दशा निकृष्टतर होती जाती है। इस सिद्धान्तका प्रचार किया जाता है कि दबा हुआ काम ही विक्षेपका कारण है। किन्तु वास्तविक बात ठीक इसके विपरीत है, अर्थात् विक्षेपके ही कारण कामाभिव्यक्ति उचित रीतिसे नहीं हो पाती। उक्त सलाहपर चलनेका परिणाम इसीलिये अनिष्टकर होता है कि इसको माननेवाले लोग अपनी काम-प्रवृत्तिको किसी समाजोपयोगी ध्येयके साथ संयुक्त नहीं कर पाते, जो उनकी विक्षिप्त दशाके सुधारका एकमात्र उपाय है। काम-प्रवृत्तिकी चरितार्थता स्वयं विक्षेपको दूर नहीं कर सकती, क्योंकि विक्षेप जीवन-प्रणालीका रोग है और उसीको ठीक करनेसे अच्छा हो सकता है।

विषयानुक्रमणिका



[जिन शब्दोंके आगे (आ०) छपा है, उनकी चर्चा आगेके पृष्ठोंमें भी है ।]


Sri Pratap Singh
Library
Srinagar.

